अखिलभारतीय–प्राच्यविद्यासम्मेलनम्

शतवर्षमहोत्सवग्रन्थमाला–४

महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में धर्ममीमांसा

डॉ. डॉली जैन

प्रधानसंपादकः

आचार्यः श्रीनिवासः वरखेडी

कुलगुरु

संपादकः

आचार्यः मधुसूदनः पेन्ना

संचालकः संशोधन–प्रकाशनविभागः

राष्ट्रहिताय संस्कृतम्

कविकुलगुरु–कालिदास–संस्कृत–विश्वविद्यालयः

रामटेकम्, जि. नागपुरम् (महाराष्ट्रम्)

तथा

न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, नव देहली

2020

अखिल भारतीय प्राच्य विद्यासम्मेलनम्
शतवर्ष महोत्सव ग्रन्थमाला – 04

महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में धर्ममीमांसा

डॉ. डॉली जैन

प्रधानसंपादक
आचार्य श्रीनिवास वरखेडी
कुलगुरु

संपादक
आचार्य मधुसूदन पेन्ना
संचालक, संशोधन व प्रकाशन विभाग

कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय
रामटेक, जि. नागपुर (महाराष्ट्र)

2020

शीर्षक	–	महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में धर्ममीमांसा
लेखक	–	डॉ. डॉली जैन
प्रधानसंपादक	–	आचार्य श्रीनिवास वरखेडी कुलगुरु, क.का.सं.वि., रामटेक
संपादक	–	आचार्य मधुसूदन पेन्ना संचालक, संशोधन व प्रकाशन विभाग, क.का.सं.वि., रामटेक
संपादक मंडळ	–	डॉ. दिनकर मराठे, क.का.सं.वि., रामटेक डॉ. वीना गाणु, नागपुर.
प्रकाशन वर्ष	–	**2020**
आवृत्ती	–	प्रथम
मूल्यम्	–	**230.00**
आय.एस.बी.एन.	–	978-8183-153-706
मुखपृष्ठम्	–	श्री. उमेश पाटील, क.का.सं.वि., रामटेकम्
मुद्रक:	–	एस.के.प्रिन्टर्स, दिल्ली
प्रकाशक:	–	कुलसचिव:, कविकुलगुरु–कालिदास–संस्कृत–विश्वविद्यालय:, प्रशासकीयभवनम्, मौदामार्गस्य, रामटेकम्. तथा न्यु भारतीय बुक कार्पोरेशन, नवी दिल्ली

PREFACE

It is indeed a matter of great pleasure and pride for Kavikulaguru Kalidas Sanskrit University, Ramtek to have this rarest opportunity of hosting the 50th session of All India Oriental Conference at Nagpur. This AIOC-50th session at Nagpur will be forever remembered by all as the year 2019 also happens to be the year of Centenary Celebration of AIOC. The premier objective with which the great scholars of yester years had contemplated and established this national academic event called All India Oriental Conference has been achieved through these years with scores of young scholars contributing significantly to the treasure house of knowledge through their valuable research work.

The research of yore and of the present should be properly recorded so as to make it easily available to all lovers of knowledge and wisdom in the years to come. With this objective, we have contemplated to commemorate the 100th year of this grand event of 50th session of AIOC by way of publishing 100 monographs on different subjects in four languages viz., Sanskrit, Hindi, Marathi and English. It is no doubt a herculean task but still worth of it, for the reason that these 100 monographs will inspire many young scholars to take upon a fresh study and research of the oriental subjects with more vigour and zeal.

The AIOC Centenary Publication Series includes wide variety of subjects like Literature, Language, Veda, Indian Philosophy, Sanskrit Grammar, Law, Children Literature, Yoga, Astronomy and Astrology, Ayurveda, Pali, Prakrit, Jain, Buddhism, Education, Library Science, Poetics, Aesthetics, and Indology. It also includes reprint of some rare texts of academic importance which have gone out of print are not easily available. We wish to mark this centenary celebrations with this series that connects the glory of the past and aspirations of future. I place on record my sincere gratitude to all the authors of these monographs who have kindly contributed to the richness of this

series.

I am confident that the books published in these series will definitely inspire the lovers of Oriental Learning in general and of Sanskrit Language and Literature in particular.

On this occasion, we have published a memorable book of all the speeches of Section-Presidents of all previous sessions of AIOC. It is indeed a very capacious addition to any collection. I with all respect thank two eminent scholars of our times - Prof. Gautam Patel, President and Prof. Saroja Bhate, General Secretary, the torch bearers of AIOC who have not only encouraged us in this venture but also made all efforts to provide these valuable historical speeches for us. I thank all executive members of AIOC and my colleagues of the varsity for making this event a grand success. My words fall short in describing the painstaking efforts and scholarly commitment of my esteemed colleague Prof. Madhusudan Penna, local secretary of this session in bringing out this series.

I also take this opportunity to profusely thank Shri. Subhash Jain and Shri Dipak Jain, the proprietors of New Bharatiya Book Corporation, New Delhi for their enthusiastic approach and timely work with all precision and grace.

Let us all sanctify ourselves in the eternal flow of wisdom by reading these books and recommending these to others also!

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्

Ramtek
10th January 2020

Prof. Srinivasa Varakhedi
Vice Chancellor, KKSU

Kavikulaguru Kalidas Sanskrit University
All India Oriental Conference

100th Year 50th Session
10th-12th January, 2020

Chief Patron
Hon'ble Nitin Gadkari
Minister of Road, Transport & Highways of India

Patron
Prof. Srinivasa Varakhedi
Vice Chancellor, KKSU, Ramtek

AIOC President
Prof. Gautam Patel
Chairman, Sanskrit Seva Samiti, Ahmedabad.

AIOC General Secretary
Prof. Saroja Bhate
Professor of Sanskrit (Retd.), Pune University, Pune

AIOC Local Secretary
Prof. Penna Madhusudan
Dean, KKSU, Ramtek

Additional Local Secretary
Dr. Harekrishna Agasti
Dr. Kalapini Agasti
Dr. Dinakar Marathe
Dr. Parag Joshi

Organising Committee
Prof. C.G. Vijayakumar, Registrar (I/c) & Dean, KKSU, Ramtek
Prof. Nanda Puri, Dean, KKSU, Ramtek
Prof. Krishnakumar Pandey, Dean, KKSU, Ramtek
Prof. Laita Chandratre, Dean, KKSU, Ramtek
Dr. Ramachandra Joshi, Finance Officer, KKSU, Ramtek
Dr. Umesh Shivahare, Controller of Examination, KKSU, Ramtek
Dr. Dipak Kapade, Librarian, KKSU, Ramtek
Dr. Renuka Bokare, PRO, KKSU, Ramtek

Shri. Rajivranjan Mishra, Technical Head, KKSU, Ramtek
Shri. Pravin Kalambe, Security Officer, KKSU, Ramtek

Reception Committee

Prof. Srinivasa Varakhedi, Chairperson Reception Committee & VC, KKSU
Parampujya Govindagiri Swamiji, Rishikesh
Prof. P.T. Chande, Former VC, KKSU
Prof. Uma Vaidya, Former VC, KKSU
Prof. Vijendra Kumar, VC, National Law University, Nagpur
Prof. Rajnish Shukla, VC, National Hindi University, Wardha
Prof. Vinayak Kane, VC, RTM Nagpur University, Nagpur
Shri. Krupal Tumane, Member of Parliament
Shri. Girishji Vyas, Member of Legislative Council
Shri. Chandrashekhar Bawankule, Guardian Minister, Nagpur
Prof. Vishram Jamdar, Director, VNIT, Nagpur
Dr. Bhushankumar Upadhyay, Commissioner of Police, Nagpur
Shri. Vijay Phanshikar, Editor, The Hitavada, Nagpur
Shri. Rajkumar Tirpude, Tirpude Group of Insitutions, Nagpur
Shri. Mohabbat Singh, Tuli International, Nagpur.
Shri. Chandragupta Varnekar, Principal Retd., Nagpur
Shri. Suresh Sharma, Baidyanath, Nagpur
Shri. Prabhakar Rao Mundle, Dharampeth Educational Institutions, Nagpur

Executive Committee

Prof. G. U. Thite,
Vice President

Dr. Brijeshkumar Shukla,
Treasurer

Members

Dr. Rajni Satish Chandra Jha
Prof. Shukla Ramakant
Dr. Behera Ranjit
Dr. Meena Shukla
Dr. Nirmala Kulkarni
Dr. Roy Gauri Nath
Dr. Tripathi Uma Rani
Dr. Pushpa Jha
Dr. Basu Ratna
Dr. Mithilesh Kumar
Prof. Singh Prasoon Dutta
Shri. Mishra Arun Ranjan
Dr. Mishra Baidyanath
Dr. Tripathi Rajendra Rasraj
Shri. Harshdev Madhav
Dr. Kamdev Jha
Dr. Parinita Deshpande
Dr. Jha Udayanath (Ashok)

प्राक्कथन

प्रत्येक मानव मन एक कुरुक्षेत्र है, जिसमें अच्छाई और बुराई का ही नहीं वरन् छोटी अच्छाई का बड़ी अच्छाई के साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। आज एक ओर जहाँ मानव, विज्ञान और भौतिक जगत् की चकाचौंध से ओतप्रोत है वहीं दूसरी ओर वह अपने आपको क्षुब्ध, अशान्त एवं अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में पाता है।

ऐसी स्थिति में गीताओं के उपदेश बहुत प्रासंगिक हैं। गीताओं का महत्त्व सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। ये शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुज आदि प्राचीन विचारकों से लेकर तिलक, गाँधी, आचार्य विनोबा भावे, डॉ. राधाकृष्णन् आदि आधुनिक विचारकों के जीवन दर्शन की दिशा का निर्धारण करने वाले केन्द्र बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित रहीं हैं। समसामयिक परिस्थितियों में भी ये जीवन के विविध क्षेत्रों में समाज को नवीन दृष्टि देने में सक्षम हैं। ये कर्म प्रधान हैं, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का उपदेश देतीं हैं। आज भौतिकवाद की चकाचौंध से घिरा हुआ मनुष्य अपने आप को नितान्त असहाय पाता है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि गीताओं में निहित धर्म मीमांसा को उजागर करने व उनको प्रसारित करने का प्रयास किया जाय जिससे हमारा समाज गीताओं की समृद्ध आध्यात्मिक परम्परा से परिचित हो सके।

इस कार्य को प्रारम्भ करने से लेकर पूर्ण करने तक के लिए मैं ईश्वर को कोटिशः नमन करती हूँ जिसने अनेक विघ्न बाधाओं के बीच में भी मुझे इस कार्य को प्रारम्भ करने की प्रेरणा व पूर्ण करने का सामर्थ्य प्रदान किया।

अपने परिवार के सभी सदस्यों के प्रति शब्दतः कृतज्ञता ज्ञापित

करना उनके स्नेह का अपमान करना होगा क्योंकि कभी–कभी शब्द हृदयस्थ भावों को व्यक्त करने में सक्षम नहीं होते।

परन्तु फिर भी यहाँ मेरी मम्मी श्रीमती सरोज मित्तल व मेरे पुत्र ''हर्ष'' को विशेष रूप से उल्लिखित करना चाहती हूँ क्योंकि ''मम्मी'' मेरे बचपन से लेकर आज तक मुझे कुछ विशेष करने की प्रेरणा देतीं रहीं और मेरा पुत्र ''हर्ष'' हर विपरीत परिस्थिति में भी कार्य पूर्ण करने के लिए निरन्तर मेरे साथ खड़ा रहा।

यद्यपि मेरे पति श्री संजय जैन मुझसे भिन्न तो नहीं, परन्तु फिर भी उनके प्रति अत्यधिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ क्योंकि लेखन कार्य की व्यस्तता के कारण मैंने उनको दिए जाने वाले अपने समय को अवश्य चुराया है।

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से जिनसे भी लाभान्वित हुई हूँ उन सभी का धन्यवाद करती हूँ।

अन्त में, मैं राजेश भैया का बहुत आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने बहुत सावधानी पूर्वक टंकण कार्य किया।

अध्यापन कार्य व अन्य अनेकविध व्यस्तताओं के कारण प्रस्तुतीकरण में अनेक दोष सम्भव हैं। अतः नीर–क्षीर विवेकी विद्वान् समीक्षकों से क्षमा याचना करते हुए डॉ. नलिनी शुक्ला के शब्दों में यही कामना करती हूँ –

''गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
प्रीतिभावं पुरस्कृत्य समाधास्यन्ति सज्जनाः।।''

भूमिका

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में महाभारत का अत्यधिक गौरवपूर्ण स्थान है। महाभारत की महत्ता के कारण उसके विषय में साहित्य जगत् में यह उक्ति प्रसिद्ध हुई –

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति तन्न क्वचित्।।

अर्थात् हे भरत श्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के विषय में जो यहाँ है, वह अन्यत्र भी है, जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है।

महाभारत को न केवल पंचम वेद कहा गया है, अपितु अपनी महत्ता एवं गुरुता की दृष्टि से वेदों से भी श्रेष्ठ माना गया है। जिस प्रकार वैदिक साहित्य का दार्शनिक अंश उपनिषद् के नाम से जाना जाता है, वैसे ही महाभारत का महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अंश गीता नाम से प्रख्यात है। महाभारत की गीताओं के इस महत्त्व को यह श्लोक स्पष्ट करता है–

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटम्,
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा,
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे।।

भविष्यपुराण – 1.4

पराशर मुनि के पुत्र व्यास का वचन है कि (महाभारत) ऐसा अमल कमल है जिसमें गीतार्थ उत्कट गन्ध विद्यमान है। अनेक आख्यान केशर हैं जो हरिकथा के सम्यक्बोधन से आबोधित (शिक्षित) ज्ञान शक्ति सम्पन्न हैं। लोक में सत्पुरुष रूप षट्पदों द्वारा प्रतिदिन बड़े चाव से इसके मकरन्द का रसपान किया जाता है। इस प्रकार यह

महाभारत रूप अमल कमल इस कलिकाल के मल को नष्ट करने वाला हमारे कल्याण के लिए हो।

महाभारत में गीता को गीत, इतिहास, उपनिषद्, रहस्य, गाथा, संवाद आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। महाभारत में प्राप्त भगवद्गीता की वैचारिक जगत् में पूर्णतः प्रसिद्धि है जबकि महाभारत में उपलब्ध अन्य गीताओं की स्वतन्त्र रूप में चर्चा भारतीय दार्शनिक परम्परा में नगण्य रूप में हुई है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने पुष्पिकाओं में 14 गीताओं का नामोल्लेख किया है। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य में 12 गीताओं को मुख्य रूप से उल्लिखित किया है। पं. जानकीनाथ शर्मा ने 16 गीताओं का निर्देश अपनी पुस्तक महाभारत परिचय की भूमिका में किया है। डॉ. सुखमय भट्टाचार्य ने अपनी कृति महाभारतकालीन समाज में 16 गीताओं का उल्लेख किया है। प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने 7 गीताओं का विवेचन अपने ग्रन्थ भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ. 45–47 में किया है। डॉ. आर. नीलकण्ठ ने अपनी शोध कृति (अंग्रेजी) महाभारत और पुराण की गीताओं के अध्ययन में 16 गीताओं का वर्णन किया है। वीरेन्द्र शर्मा ने गीता संचयन में 18 तथा शोधविदुषी डॉ. प्रज्ञा (हरिकृष्ण ठाकर) जोशी ने अपने गुजराती शोध ग्रन्थ "महाभारत की गौण गीता : एक विवेचनात्मक अध्ययन" में 44 गीताओं का विवेचन किया है।

इस सन्दर्भ में मैंने महाभारत में गीताओं की संख्या 20 स्वीकार की है जो इस प्रकार हैं–

1.	अम्बरीष गीता	2.	अष्टावक्र गीता
3.	उतथ्य गीता	4.	ऋषभ गीता
5.	कश्यप गीता	6.	गुरुशिष्य गीता
7.	पराशर गीता	8.	ब्राह्मण गीता
9.	बोध्य गीता	10.	मङ्कि गीता
11.	मार्कण्डेय गीता	12.	वामदेव गीता
13.	विचख्नु गीता	14.	विदुर गीता
15.	वृत्र गीता	16.	शम्पाक गीता
17.	षड्ज गीता	18.	सनत्सुजातीय गीता
19.	हंस गीता	20.	हारीत गीता

विषय विवेचन की दृष्टि से शोधकार्य को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय ''महाभारत में वर्णित विविध गीताओं का परिचय'' है। इसमें महाभारत में उपलब्ध गीताओं की विषयवस्तु, अध्याय संख्या इत्यादि का परिचय दिया जाएगा।

द्वितीय अध्याय ''महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में धर्म विवेचन'' है। इस अध्याय में गीताओं में धर्म के स्वरूप, महत्त्व, लक्षण एवं विविध तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय ''महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में आश्रम धर्म'' है। इस अध्याय में गीताओं में आश्रम धर्म का स्वरूप, कर्त्तव्य इत्यादि को स्पष्ट किया गया है।

चतुर्थ अध्याय ''महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में वर्ण धर्म'' है। इस अध्याय में गीताओं के अनुसार वर्ण धर्म का स्वरूप, कर्त्तव्य इत्यादि का विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय ''महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में राजधर्म'' है। इस अध्याय में राजा का स्वरूप, आवश्यकता, गुण, कर्त्तव्य व राज्य के विविध तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

उपसंहार में प्रस्तुत अध्ययन के प्रत्येक अध्याय की उपलब्धियों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन कार्य की उपादेयता व महत्ता निश्चय ही अनुसन्धान के क्षेत्र में निम्नांकित नवीन आयामों को विकसित करने में होगी–

1. संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध गीताओं की समृद्ध परम्परा प्रकाश में आएगी।
2. अनुसन्धाताओं में अन्य धार्मिक रचनाओं का विश्लेषण व अनुसन्धान करने की अधिक प्रवृत्ति उत्पन्न होगी।
3. महाभारत के अतिरिक्त पौराणिक व स्वतन्त्र गीताओं के अध्ययन की प्रवृत्ति विकसित होगी।

इस आशय से किया गया यह प्रयास, यदि धार्मिक चिन्तन को गति और दिशा प्रदान करता है, तो यह परिश्रम सार्थक होगा।

विषयानुक्रमणी

प्रथम अध्याय
महाभारत में वर्णित
विविध गीताओं का परिचय

महाभारत भारत के सांस्कृतिक विषयों का विराट कोश तथा आचार संहिता है। महाभारत के युद्ध के समय किंकर्त्तव्य विमूढ़ हुए अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा दिया गया उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु महाभारत में इसके अतिरिक्त अनेक गीताएँ उपलब्ध होतीं हैं। महाभारत में वर्णित विविध गीताओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैः–

(i) अम्बरीष गीता

अम्बरीष गीता आश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत अनुगीतापर्व के 31वें अध्याय में वर्णित है। इसमें कुल 13 श्लोक हैं। इसमें राजा अम्बरीष के द्वारा आध्यात्मिक स्वराज विषयक गाथा का वर्णन किया गया है। इसमें मनुष्य का सबसे बड़ा दोष लोभ को बताया गया है।[1] उसे ज्ञान रूपी तलवार से काट कर मनुष्य सुखी होता है।

(ii) अष्टावक्र गीता

अष्टवक्र गीता वन पर्व के अन्तर्गत 132 से लेकर 134वें अध्याय तक वर्णित है। 132वें अध्याय में अष्टावक्र के जन्म के वृत्तान्त की कथा दी गई है।[2] 12 वर्ष के होने के बाद वे राजा जनक के दरबार में जाते हैं। 133वें अध्यायक. में अष्टावक्र का द्वारपाल तथा राजा जनक से वार्तालाप वर्णित है। इस वार्तालाप में अष्टावक्र राजा जनक के सभा पण्डित बन्दी से शास्त्रार्थ की इच्छा व्यक्त करते है।[3] 134वें अध्याय में बन्दी और अष्टावक्र का शास्त्रार्थ वर्णित है।[4] शास्त्रार्थ में

बन्दी पराजित होते हैं। पिता के आशीर्वाद से समङ्गा नदी में स्नान करने से अष्टावक्र ऋषि के भी सारे अङ्ग सीधे हो जाते हैं।[5]

(iii) उतथ्य गीता

उतथ्य गीता शान्ति पर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में 90 व 91वें अध्यायों में है। इसमें अङ्गिरा ऋषि के पुत्र उतथ्य ने युवनाश्व के पुत्र मान्धाता को क्षत्रिय–धर्म का उपदेश दिया है। राजा धर्म का पालन और प्रचार करने के लिए ही होता है, विषय सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं। राजा सम्पूर्ण जगत् का रक्षक है।[6] जिसमें धर्म विराज रहा हो, उसी को राजा कहते हैं।[7] इसके बाद राजा के कर्त्तव्य, गुण, राजधर्म इत्यादि का सविस्तार वर्णन किया गया है।

मन, वाणी और शरीर के द्वारा सबकी रक्षा करना व पुत्र के अपराध को भी क्षमा नहीं करना राजधर्म है। यहाँ राजधर्म का सविस्तार विवेचन किया गया है।[8] इसी के साथ उतथ्य गीता की समाप्ति हो जाती है।

(iv) ऋषभ गीता

ऋषभ गीता शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में 125 से 128वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें युधिष्ठिर के द्वारा पितामह भीष्म से आशा विषयक प्रश्न किया गया है।[9] उत्तर में राजा सुमित्र और ऋषभ नामक ऋषि के इतिहास का वर्णन किया गया है। राजर्षि सुमित्र हैहयवंशी राजा थे। एक दिन वे शिकार खेलने के लिए वन में गए। वहाँ उन्होंने एक मृग का पीछा किया। पीछा करते–करते वे तपस्वियों के आश्रम में जा पहुँचे।

तपस्वियों द्वारा उनका परिचय पूछा जाता है। तब राजा सुमित्र उन्हें अपना परिचय व वहाँ आने का कारण बतलाते हैं और कहते हैं कि मेरी भग्न हुई आशा मुझे तीव्र कष्ट दे रही है।[10] महान् पर्वत हिमालय अथवा अगाध जल राशि वाला समुद्र भी अपनी विशालता के द्वारा आशा की समानता नहीं कर सकते।[11] वे तपस्वियों से आशा के कारण और सामर्थ्य के विषय में प्रश्न करते हैं।[12]

तब उनमें से ऋषभ ऋषि उन्हें तनु नामक एक तपस्वी की

कथा सुनाते हैं। तनु मुनि ने वीरद्युम्न नामक राजा को आशा के स्वरूप का परिचय दिया था, वही ऋषभ ऋषि राजा सुमित्र को बताते हैं। वे कहते हैं कि आशा या आशावान् की दुर्बलता के समान और किसी की दुर्बलता नहीं है। आशा से बँधा हुआ व्यक्ति दुर्बल है और जिसने आशा को जीत लिया है, वह पुष्ट है।[13] जो याचक धैर्य धारण कर सके, वह दुर्लभ है एवं जो याचना करने वाले याचक की अवहेलना न करे – आदरपूर्वक उसकी इच्छा पूर्ण करे, ऐसा पुरुष संसार में अत्यन्त दुर्लभ है।[14] इस प्रकार आशा के स्वरूप के परिचय के साथ ही गीता की समाप्ति हो जाती है।

(v) कश्यप गीता

कश्यप गीता आश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत अनुगीता पर्व में 16वें अध्याय से लेकर 19वें अध्याय तक वर्णित है। 16वें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से गीता के बारे में पूछा है। अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछते हैं कि हे कृष्ण! जब संग्राम का समय उपस्थित था उस समय आपने मुझे जो ज्ञान का उपदेश दिया था मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलित चित्त हो जाने के कारण नष्ट हो गया है अतः हे माधव! उन विषयों को सुनने के लिए मेरे मन में बारम्बार उत्कण्ठा होती है। अतः वह विषय आप मुझे सुना दीजिए।[15] अर्जुन के ऐसा कहने पर श्री कृष्ण बोले कि उस समय मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान का श्रवण कराया था[16] परन्तु तुमने उसे याद नहीं रखा। अब उस विषय का ज्ञान कराने के लिए मैं प्राचीन इतिहास का वर्णन करता हूँ।[17]

इस प्रसंग में श्रीकृष्ण अर्जुन को काश्यप नाम के एक धर्मज्ञ और तपस्वी ब्राह्मण व एक सिद्ध महर्षि की कथा सुनाते हैं।[18] सिद्ध के उपदेश के प्रसंग में प्राणी को बार–बार प्राप्त होने वाले जीवन–मृत्यु के क्लेश[19], तपस्या के अचिरस्थायी फल[20] का उल्लेख किया गया है। संसार की दुःखमयता का बहुशः उल्लेख किया गया है।[21] 17वाँ अध्याय काश्यप और सिद्ध महात्मा के बीच संवाद के रूप में वर्णित है। इसमें काश्यप द्वारा अनेक प्रश्न किए गए हैं जैसे – यह शरीर कैसे नष्ट होता है? दूसरा शरीर कैसे प्राप्त होता है?[22] मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का फल कैसे भोगता है?[23]

18वें अध्याय में सिद्ध पुरुष ने जीव के गर्भ में प्रवेश[24], आचार–धर्म, कर्म–फल की अनिवार्यता[25] तथा संसार से पार होने के उपायों का वर्णन[26] किया है। 19वें अध्याय में गुरु शिष्य के बीच हुए संवाद में मोक्ष प्राप्ति के उपायों का वर्णन किया गया है। जो आत्मवत् सर्व प्राणियों को देखता है[27] जो जीवन–मरण, सुखदुःख, लाभ–हानि में समान रहता है।[28] इसके बाद उन्होंने उत्तम योगशास्त्र का वर्णन किया है जिसके अनुसार योग साधना करने वाले योगी पुरुष आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं।[29]

जो साधक अपनी इन्द्रियों को वश में करके मन को परमात्मा में लगाता है, और तीव्र तप करता है वह योगी पुरुष आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं।[30] जीव जब योग के द्वारा आत्मा का यथार्थ रूप से दर्शन कर लेता है उस समय उस पर त्रिभुवन के अधीश्वर का भी आधिपत्य नहीं रहता।[31] वह देवताओं का भी देवता हो सकता है। वह इस अनित्य शरीर का त्याग करके अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त होता है।[32] इसके बाद यह कथा समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इस प्रकार मैंने तुम्हें मोक्षधर्म का युक्तियुक्त उपदेश दिया है। जो बुद्धिमान, श्रद्धालु और पराक्रमी मनुष्य लौकिक सुख को सारहीन समझ कर उसे त्याग देता है वह इन उपायों के द्वारा बहुत शीघ्र परम गति को प्राप्त कर लेता है।[33]

(vi) गुरु शिष्य गीता

गुरुशिष्य गीता आश्वमेधिक पर्व में अनुगीतापर्व में 35 से 51वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें 35वें अध्याय में श्रीकृष्ण के द्वारा मोक्षधर्म का वर्णन किया गया है। गुरु और शिष्य के संवाद में ब्रह्मा और महर्षियों के प्रश्नोत्तर वर्णित हैं। जो किसी वस्तु की कामना नहीं करता तथा जिसके मन में किसी बात का अभिमान नहीं होता, वह इस लोक में रहता हुआ भी ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।[34] प्रसंगवश वर्ण, आश्रम व सांख्य दर्शन के तत्त्वों का भी उल्लेख किया गया है। 36वें अध्याय में ब्रह्माजी के द्वारा तीनों गुणों का परिचय व तमो गुण,

उसके कार्य व फल का वर्णन किया गया है।[35] 37वें अध्याय में

रजोगुण, उसके कार्य व फल का वर्णन किया गया है। 38वें अध्याय में सत्त्वगुण, उसके कार्य व फल का वर्णन किया गया है। 39वें अध्याय में तीनों गुणों का व प्रकृति के नामों इत्यादि का वर्णन किया गया है। ये तीनों गुण परस्पर रंगे हुए, एक दूसरे से अनुप्राणित, अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे का अनुसरण करने वाले हैं।[36]

40वें अध्याय में महत्तत्त्व के नाम और परमात्मतत्त्व को जानने की महिमा का वर्णन किया गया है कि जो सर्वश्रेष्ठ परमात्मा की महिमा को जानता है, उसे पुण्यदायक उत्तम गति मिलती है।[37] 41वें अध्याय में अहंकार की उत्पत्ति व उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है।[38] 42वें अध्याय में अहंकार से पञ्च महाभूतों और इन्द्रियों की सृष्टि, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का वर्णन किया गया है तथा निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया गया है।[39] 43वें अध्याय में चराचर प्राणियों के अधिपतियों का[40], धर्म आदि के लक्षणों का और विषयों की अनुभूति के साधनों का वर्णन किया गया है।

44वें अध्याय में सब पदार्थों के आदि अन्त का और ज्ञान की नित्यता का वर्णन किया गया है।[41] 45वें अध्याय में देह रूपी कालचक्र का[42] तथा गृहस्थ और ब्राह्मण के धर्म का कथन किया गया है।[43] 46वें अध्याय में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के धर्म का वर्णन किया गया है। 47वें अध्याय में मुक्ति के साधनों का, देह रूपी वृक्ष का[44] तथा ज्ञान रूपी खड्ग से उसे काटने का वर्णन किया गया है। 48वें अध्याय में आत्मा व परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है। 49वें अध्याय में धर्म का निर्णय जानने के लिए ऋषियों के प्रश्न वर्णित हैं। जीव और ईश्वर, देश और काल, मोक्ष, अहिंसा, यज्ञ व ज्ञान इत्यादि के विषय में विविध प्रकार के प्रश्न किए गए हैं।

50वें अध्याय में सत्त्व और पुरुष की भिन्नता, बुद्धिमान् की प्रशंसा, पञ्चभूतों के गुणों का विस्तार और परमात्मा की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। 51वें अध्याय में तपस्या का प्रभाव[45], आत्मा का स्वरूप, ज्ञान की महिमा व गुरुशिष्य गीता का उपसंहार किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही गुरु हूँ और मेरा मन ही शिष्य है।[46]

(vii) पराशर गीता

यह महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के दो सौ नब्बेवें अध्याय से 298वें अध्याय तक है। 290वें में राजा जनक पराशर मुनि से इहलोक व परलोक में कल्याणकारी वस्तु के बारे में प्रश्न करते हैं।[47] पराशर मुनि धर्म को ही श्रेय का उत्तम साधन कहते हैं।[48] 291वें अध्याय में कर्मफल की अनिवार्यता का वर्णन है।[49] 292वें अध्याय में धर्मोपार्जित धन की श्रेष्ठता[50], पंच ऋणों से उऋण होने की विधि[51], सदाचार व गुरूजनों की सेवा का सुफल वर्णित है। 293वें अध्याय में सत्संग की महिमा[52] और चारों वर्णों के धर्म पालन को बताया गया है।[53]

294वें अध्याय में निन्दनीय कर्मों के त्याग की आज्ञा, स्वधर्म के द्वारा कर्त्तव्यपालन का आदेश दिया गया है।[54] 295वें अध्याय में विषयासक्त मनुष्य का पतन, तपोबल की श्रेष्ठता बताई गई है। 296वें अध्याय में नाना प्रकार के धर्म और कर्त्तव्यों का उपदेश दिया गया है।[55] 297वें अध्याय में अज्ञान को परम शत्रु कहा गया है।[56] 298वें अध्याय में पराशर गीता का उपसंहार वर्णित है। इसमें राजा जनक के अनेक प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं।[57]

(viii) ब्राह्मण गीता

ब्राह्मण गीता आश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत अनुगीता पर्व के (20–34) तक के अध्यायों में वर्णित है। 20वें अध्याय में एक ब्राह्मण द्वारा अपनी पत्नी को ज्ञानयज्ञ का उपदेश देना वर्णित है।[58] 21वें अध्याय में ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से दस होताओं से सम्पन्न होने वाले यज्ञ का वर्णन किया है।[59] 22वें अध्याय में मन–बुद्धि और इन्द्रिय रूप सप्त होताओं के यज्ञ का विधान बताया गया है।[60] 23वें अध्याय में प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान इन पाँच प्राणों को समान बताया गया है।[61] 24वें अध्याय में देवर्षि नारद और देवमत का उदान विषयक वार्त्तालाप वर्णित है।[62] 25वें अध्याय में चतुर्होम यज्ञ का वर्णन किया गया हैं। करण, कर्म, कर्त्ता और मोक्ष ये चार हैं, जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् आवृत्त है।[63] 26वें अध्याय में परमात्मा की प्रधानता बताई

गई है।[64] परमात्मा को शासक, गुरु[65], बन्धु[66], श्रोता, शत्रु, ज्ञानी, द्वेष्टा आदि रूपों में चित्रित किया गया है। 27वें अध्याय में अध्यात्म विषयक महान् वन का वर्णन किया गया है। उस वन में सात बड़े–बड़े वृक्ष हैं, सात आश्रय हैं, सात प्रकार की समाधि और सात प्रकार की दीक्षाएँ है।[67] 28वें अध्याय में ज्ञानी पुरुष की स्थिति तथा अध्वर्यु और यति का संवाद वर्णित है।[68] 29वें अध्याय में परशुराम जी के द्वारा क्षत्रिय कुल के संहार का वर्णन है। 30वें अध्याय में अलर्क के ध्यान योग का उदाहरण देकर पितामहों का परशुराम जी को समझाना और परशुराम जी का तपस्या के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना वर्णित है।[69]

31वें अध्याय में राजा अम्बरीष की गाई हुई आध्यात्मिक स्वराज्यविषयक गाथा का वर्णन है।[70] 32वें अध्याय में ब्राह्मणरूपधारी धर्म और जनक का ममत्व त्याग विषयक संवाद वर्णित है। 33वें अध्याय में ब्राह्मण ने अपनी पत्नी को अपने स्वरूप का परिचय दिया है। वह कहता है कि मैं जीवन्मुक्त महात्मा, वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचारी सब कुछ हूँ।[71] इस भूतल पर जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब मेरे द्वारा व्याप्त है।[72] 34वें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा ब्राह्मण, ब्राह्मणी और क्षेत्रज्ञ का रहस्य बतलाते हुए ब्राह्मणगीता का उपसंहार किया गया है।[73]

(ix) बोध्य गीता

बोध्यगीता महाभारत के शान्तिपर्व में मोक्षधर्मपर्व के 178वें अध्याय में वर्णित है। इसमें 13 श्लोक हैं। एक बार ययाति ने बोध्यमुनि से पूछा कि आप मुझे शान्ति प्रदान करने वाला उपदेश दीजिए।[74] बोध्य उसे अपने छह गुरुओं के उपदेश के विषय में बताते हैं, ये गुरू हैंः– पिङ्गला, क्रौञ्च पक्षी, सर्प, सारङ्ग पक्षी (पपीहा), बाण बनाने वाला, कुमारी कन्या।[75] आशा के त्याग का उपदेश देने के कारण पिङ्गला गुरु हुई।[76] भोगों के परित्याग का उपदेश देने के कारण क्रौञ्च पक्षी गुरु हुआ।[77] अनिकेत रहने का उपदेश देने के कारण साँप गुरु हुआ।[78] अद्रोह का उपदेश देने के कारण पपीहा गुरु हुआ।[79] एकाग्रचित्तता का उपदेश देने के कारण इषुकार गुरु हुआ।[80] एकाकी रहने का उपदेश देने के कारण कुमारी कन्या गुरु हुई।[81]

(x) मङ्कि गीता

मङ्किगीता महाभारत में शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के 177वें अध्याय में वर्णित है। इसमें 54 श्लोक हैं। इसमें मङ्कि मुनि के द्वारा भोगों से विरक्त होने पर प्रकट किए गए मनोभाव वर्णित हैं। उनका मानना है कि धन की तृष्णा से सदैव दुःख प्राप्त होता है।[82] काम रूप शत्रु मनुष्य का प्रबल शत्रु है।[83] इस कामना का परित्याग करके मङ्कि मुनि निर्वेद को प्राप्त हुए और उन्होंने परब्रह्म को व अमरत्व को प्राप्त कर लिया।[84]

(xi) मार्कण्डेय गीता

मार्कण्डेय गीता वनपर्व के अन्तर्गत 183 से लेकर 191वें अध्याय तक वर्णित है। 183वें अध्याय में काम्यक वन में पाण्डवों के पास भगवान् श्रीकृष्ण, मुनिवर मार्कण्डेय तथा नारद जी आते हैं। युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेय जी द्वारा कर्मफल भोग का विवेचन किया गया है।[85] 184वें अध्याय में तपस्वी तथा स्वधर्म–परायण ब्राह्मणों का माहात्म्य वर्णित है।[86] 185वें अध्याय में अत्रि मुनि व गौतम मुनि के संवाद में राजा की महिमा वर्णित की गई है कि राजा धर्म रूप से विख्यात है, राजा ही प्रजापति, इन्द्र, शुक्राचार्य, धाता और बृहस्पति भी है।[87]

186वें अध्याय में तार्क्ष्य मुनि और सरस्वती देवी का धर्म व यज्ञ विषयक संवाद वर्णित है। इसमें सरस्वती जी ने दान व यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व बताया है।[88] अग्निहोत्र के अधिकारी के विषय में वे कहतीं हैं कि वेद–मन्त्रों का ज्ञान न रखने वाले पुरुष को देवताओं के लिए हविष्य प्रदान करने के कार्य में नियुक्त नहीं करना चाहिए क्योंकि वैसे मनुष्य के द्वारा किया गया हवन व्यर्थ हो जाता है।[89] 187वें अध्याय में वैवस्वत मनु का चरित्र और मत्स्यावतार की कथा वर्णित है।[90] 188वें में अध्याय में चारों युगों की वर्ष संख्या[91] एवं कलियुग के प्रभाव का वर्णन एवं प्रलयकाल का दृश्य उपस्थित किया गया है।[92] इसके बाद मार्कण्डेय जी को बालमुकुन्द के दर्शन, मार्कण्डेय जी का भगवान् के उदर में प्रवेश कर ब्रह्माण्ड दर्शन करना और फिर बाहर निकल कर उनसे वार्त्तालाप करना इत्यादि वर्णित हैं।

189वें अध्याय में भगवान् बालमुकुन्द का मार्कण्डेय जी को अपने स्वरूप का परिचय दिया गया है।[93] मार्कण्डेय द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा का प्रतिपादन किया जाता है और पाण्डव श्रीकृष्ण की शरण में जाते हैं।[94] 190वें अध्याय में युगान्तकालिक कलियुग की दुरव्यवस्था का वर्णन किया गया है।[95] तदनन्तर कल्कि अवतार का उल्लेख किया गया है।[96] 191वें अध्याय में भगवान् कल्की के द्वारा सत्ययुग की स्थापना का वर्णन किया गया है।[97] अन्त में मार्कण्डेय जी द्वारा युधिष्ठिर को धर्मोपदेश दिया गया है।[98]

(xii) वामदेव गीता

वामदेव गीता शान्ति पर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में 92 से लेकर 94वें अध्याय तक है। इसमें युधिष्ठिर द्वारा भीष्म पितामह से पूछा गया है कि यदि राजा धर्म में स्थित रहना चाहे तो वह कैसा व्यवहार करे।[99] तब पितामह द्वारा वसुमना नामक राजा और वामदेव नामक ऋषि की कथा के प्रसंग में राजधर्म का सविस्तार विवेचन किया गया है। राजा को धर्म का अनुसरण करना चाहिए। धर्म से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। धर्म में स्थित रहने वाले राजा सारी पृथिवी को जीत लेते हैं।[100]

राजा को कल्याणकारी गुणों को ग्रहण करने वाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय व बुद्धिमान् होना चाहिए। वह राजा उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है जैसे नदियों के प्रवाह से समुद्र।[101] 93वें अध्याय में राजा के व्यवहार का वर्णन किया गया है कि राजा छल–कपट न करे। सत्य को न छोड़े। इन्द्रिय संयम, धर्माचरण, सुशीलता, क्षत्रिय धर्म तथा प्रजा के हित का कभी त्याग न करे। बिना विचारे कुछ न बोले, जल्दबाजी न करे, निन्दा न करे।[102] राजा को अपने सेवक, मन्त्रियों अधिकारियों की नियुक्ति के विषय में उपदेश दिया गया है।[103]

94वें अध्याय में राज्य के तत्त्वों के विषय में उपदेश दिया गया है। जिस राजा का देश समृद्धिशाली, धन धान्य से सम्पन्न, राजा को प्रिय मानने वाले मनुष्यों से परिपूर्ण तथा हृष्ट–पुष्ट मन्त्रियों से सुशोभित है, उसी की जड़ मजबूत समझनी चाहिए।[104] उसके बाद

राजा को नीति प्रयोग का व विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के साथ किए जाने वाले व्यवहार के प्रकार का उपदेश दिया गया है। इसके साथ ही गीता की समाप्ति हो जाती है।

(xiii) विचख्नु गीता

विचख्नु गीता शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में 265वें अध्याय के रूप में है। इसमें भीष्म पितामह ने राजा विचख्नु के समस्त प्राणियों पर दया करने विषयक इतिहास का वर्णन किया है। यज्ञ शाला में एक बैल की कटी हुई गरदन व आर्तनाद करती हुई गौओं को देखकर राजा विचख्नु कहते हैं कि जो धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं तथा जिन्हें आत्मा के विषय में सन्देह है, ऐसे लोगों ने ही हिंसा का समर्थन किया है।[105]

इस विषय में मनु का उदाहरण दिया गया है कि मनु ने सम्पूर्ण कर्मों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्य वेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं।[106] वे अहिंसा को सर्वोत्तम धर्म कहते हैं।[107]

यूपनिर्माण के उद्देश्य से वृक्ष काटना व यज्ञ के उद्देश्य से पशुबलि देकर मांस खाना धर्म नहीं है। सुरा, आसव, मधु, मांस, मछली और तिल इत्यादि का यज्ञों में प्रयोग धूर्तों ने प्रारम्भ किया है, वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है।[108] ब्राह्मण तो सम्पूर्ण यज्ञों में भगवान् विष्णु का ही आदर भाव मानते हैं और खीर तथा फूल आदि से ही उनकी पूजा का विधान है।[109] अन्ततः मनुष्य शरीर को ही धर्म का साधन बताते हुए गीता की समाप्ति हो जाती है।[110]

(xiv) विदुर गीता

विदुर गीता स्त्री पर्व में 1 से 7वें अध्याय तक वर्णित है। प्रथम अध्याय में धृतराष्ट्र के विलाप का व संजय का उनको सान्त्वना देने का वर्णन है।[111] उसके बाद विदुर भी धृतराष्ट्र को सान्त्वना देते हैं।[112] द्वितीय अध्याय में विदुर जी के द्वारा धृतराष्ट्र को समझा कर उनको शोक त्यागने के लिए कहा जाता है।[113] यह शोक न धर्म का, न अर्थ का और न ही सुख का साधक है। इसके द्वारा मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ के साथ–साथ त्रिवर्ग से भी वञ्चित हो जाता है।[114]

तृतीय अध्याय में विदुर जी शरीर की अनित्यता का प्रतिपादन करते हैं।[115] मनुष्य की संसार में स्थिति पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही होती है अतः शोक करना व्यर्थ है।[116] चतुर्थ अध्याय में दुःखमय संसार के गहन स्वरूप का वर्णन किया गया है कि इस संसार में मनुष्य को दुःख ही दुःख प्राप्त होते हैं। सभी प्रकार के मनुष्य जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु तक व्याधियों, कष्टों व ग्रहों इत्यादि से पीड़ित होते हैं।[117] अन्त में काल से प्रेरित होकर यमदूत उसे शरीर से बाहर खींच लेते हैं और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उस समय उसके शुभ और अशुभ कर्म उसके सामने प्रकट होते हैं।[118]

पाँचवे अध्याय में गहन वन के दृष्टान्त द्वारा संसार के भयंकर स्वरूप का वर्णन किया गया है। वह वन मांसभक्षी जन्तुओं, बड़े–बड़े नागों, सर्पों व छह मुँह वाले हाथी से व्याप्त है। वह वन चारों ओर से जाल से घिरा है और एक भयानक स्त्री ने उसे आवेष्टित कर रखा है। उस वन में एक कुँआ है जिसके भीतर मधुमक्खियाँ, सफेद व काले चूहे विद्यमान हैं।[119] छठे अध्याय में संसार रूपी वन के रूपक का स्पष्टीकरण किया गया है। इस संसार रूपी वन में जो सर्प हैं वे रोग हैं। कुँआ देहधारियों का शरीर है। विशाल नाग काल है। छह मुँह, वाला हाथी संवत्सर है। छह मुँह छह ऋतुएँ व 12 महीने ही उसके 12 पैर हैं। चूहे दिन और रात का प्रतीक हैं। मधुमक्खियाँ कामनाएँ हैं।[120] सातवें अध्याय में संसार चक्र का वर्णन किया गया है[121] और रथ के रूपक द्वारा संयम और ज्ञान आदि को मुक्ति के उपाय के रूप में चित्रित किया गया है।[122]

(xv) वृत्रगीता

यह महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के 279वें व 280वें अध्याय में वर्णित है। यह युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के संवाद के रूप में है। युधिष्ठिर भीष्म पितामह से पूछते हैं कि दुःख से निवृत्ति व मोक्ष प्राप्ति का क्या उपाय है?[123] प्रश्न के उत्तर के प्रसंग में भीष्म वृत्रासुर की कथा सुनाते हैं कि प्राचीन काल में वृत्रासुर पराजित

व ऐश्वर्य भ्रष्ट हो गया था, तब भी वह आसक्तिशून्य होकर शोक नहीं

करता था।[124] एक दिन शुक्राचार्य ने उससे इसका कारण पूछा, तब वृत्रासुर ने कहा कि मैंने सत्य और तप के प्रभाव से जीवों के आवागमन का रहस्य जान लिया है अतः मैं उसके विषय में शोक नहीं करता हूँ।[125] वृत्रासुर व शुक्राचार्य की बातचीत के मध्य में धर्मात्मा सनत्कुमार वहाँ आ पहुँचे।[126] सनत्कुमार विष्णु के अलौकिक स्वरूप का विस्तृत विवेचन करते हैं। पृथ्वी भगवान विष्णु के दोनों चरण हैं, स्वर्गलोक मस्तक है, चारों दिशाएँ चार भुजाएँ हैं, आकाश कान हैं[127], तेजस्वी सूर्य उनका नेत्र है, मन चन्द्रमा है, बुद्धि नित्य ज्ञानवृत्ति है, जल रसनेन्द्रिय है[128], वे ही ब्रह्म हैं, वे ही परम धर्म हैं, वे ही तप और सद्सत्वस्वरूप हैं।[129]

(xvi) शम्पाक गीता

शम्पाक गीता महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्षधर्मपर्व के 176वें अध्याय में वर्णित है। इसमें कुल 23 श्लोक हैं। यह युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के संवाद के रूप में है। इसमें त्याग की महिमा के विषय में शम्पाक नामक ब्राह्मण का उपदेश वर्णित है। त्याग ही सर्वश्रेष्ठ है।[130] शम्पाक ने अकिंचनता को ही संसार में सबसे बड़ा सुख माना है।[131]

(xvii) षड्ज गीता

षड्ज गीता शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्मपर्व में 167वें अध्याय के रूप में है। इसमें धर्म, अर्थ और काम के विषय में विदुर तथा पाण्डवों के पृथक्–पृथक् विचार व अन्त में युधिष्ठिर का निर्णय वर्णित है। युधिष्ठिर के धर्म, अर्थ और काम के विषय में प्रश्न करने पर सर्वप्रथम विदुरजी धर्म को श्रेष्ठ गुण बताते हैं, अर्थ मध्यम है और काम सबकी अपेक्षा लघु है। वे कहते हैं कि मन को वश में करके धर्म को प्रधान ध्येय बनाना चाहिए और सम्पूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा हम अपने लिए चाहते हैं।[132]

इसके बाद अर्जुन अर्थ की महत्ता बताते हुए कहते हैं धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि से उन दोनों की भी सिद्धि हो जाएगी।[133] इसके बाद नकुल और सहदेव का मत प्रस्तुत

किया गया है कि यद्यपि धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है, इसकी

प्राप्ति से मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसमें संशय नहीं है।[134] परन्तु फिर भी मनुष्य पहले धर्म का आचरण करे, फिर धर्मयुक्त धन का संग्रह करे। इसके बाद दोनों की अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्ग का संग्रह करने से मनुष्य सफल मनोरथ हो जाता है।[135] तब भीमसेन काम को ही सर्वोपरि बताते हुए कहते हैं कि कामनाहीन मनुष्य को न धन कमाने की, न धर्माचरण की और न ही काम (भोग) की ही इच्छा होती है, अतः त्रिवर्ग में काम ही सबसे बढ़कर है।[136]

अन्त में युधिष्ठिर निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि जिसके मन में आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। आसक्तिशून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं अतः मुमुक्षु पुरुष को किसी का प्रिय अथवा अप्रिय नहीं करना चाहिए।[137] मनुष्य कर्म द्वारा अप्राप्य अर्थ नहीं पा सकता। जो होनहार है, वही होती है। मनुष्य त्रिवर्ग से रहित होने पर भी आवश्यक पदार्थ को प्राप्त कर लेता है। अतः मोक्ष प्राप्ति का गूढ़ उपाय ज्ञान ही जगत् का वास्तविक कल्याण करने वाला है।[138]

(xviii) सनत्सुजात गीता

सनत्सुजात गीता उद्योग पर्व के अन्तर्गत सनत्सुजात पर्व में 41 से 46वें अध्याय तक वर्णित है। 41वें अध्याय में विदुर जी के द्वारा स्मरण करने पर आए हुए सनत्सुजात ऋषि से धृतराष्ट्र को उपदेश देने के लिए विदुर जी के द्वारा प्रार्थना की गई है।[139] 42वें अध्याय में धृतराष्ट्र के द्वारा मृत्यु विषयक प्रश्न किया गया है। सनत्सुजात ऋषि के द्वारा मृत्यु के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यम की आज्ञा से क्रोध, प्रमाद और लाभ रूपी मृत्यु मनुष्यों के विनाश में प्रवृत्त होती है। अहंकार के वशीभूत हुआ मनुष्य परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता।[140] उसके बाद परमात्मा के साक्षात्कार के लिए कामनाओं को समाप्त करने का उपदेश दिया गया है।[141] इसके बाद धृतराष्ट्र और सनन्सुजात ऋषि के बीच अनेक विषयों पर चर्चा की गई है।

43वें अध्याय में ब्रह्मज्ञान में उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद

एवं दम आदि के लक्षण तथा मदादि दोषों का निरूपण किया गया है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा मनुष्यों में रहने वाले ये 12 दोष मनुष्यों के लिए सदा ही त्यागने योग्य हैं।[142] 44वें अध्याय में ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्म का निरूपण किया गया है। प्रथमतः ब्रह्मचर्य का महत्त्व, स्वरूप व प्रकार का वर्णन किया गया है। ब्रह्मचर्य को ब्रह्मज्ञान का मार्ग कहा गया है।[143] 45वें अध्याय में मनुष्य के गुण–दोषों का विवेचन किया गया है।[144] इस सन्दर्भ में मनुष्यों के विविध प्रकारों का भी उल्लेख किया गया है।[145]

46वें अध्याय में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है कि जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान्, ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यश रूप है।[146] परमात्म स्वरूप के सविस्तार वर्णन के बाद योगीजनों के द्वारा उनके साक्षात्कार का प्रतिपादन किया गया है।

(xix) हंसगीता

हंसगीता शान्तिपर्व के मोक्षधर्मपर्व के 299वें अध्याय में वर्णित है। यह युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के संवाद के रूप में है। इसमें 45 श्लोक हैं। इसमें हंसरूपधारी ब्रह्मा ने साध्यगणों को उपदेश दिया है। साध्यगण ब्रह्मा से मोक्षधर्म के विषय में प्रश्न करते हैं।[147] जिस कर्म से जीव सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाए, उसका उपदेश देने की प्रार्थना करते हैं।[148] तब हंस तप, इन्द्रिय–संयम, सत्य–भाषण और मनोनिग्रह आदि कार्यों को ही उत्तम बताता है।[149] इस प्रकार साध्यों के प्रश्नों का उत्तर देकर ब्रह्मा स्वर्गलोक की ओर चल दिए। ब्रह्मा जी द्वारा प्रदत्त यह तत्त्व ज्ञान, यश तथा आयु की वृद्धि करने वाला तथा स्वर्गलोक की प्राप्ति का निश्चय साधन है।

(xx) हारीत गीता

हारीत गीता शान्तिपर्व के मोक्षधर्मपर्व के 278वें अध्याय में वर्णित है। इसमें 22 श्लोक हैं। यह युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के बीच संवाद के रूप में है। युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा कि परब्रह्म का परमधाम कैसे पुरुष द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।[150]

भीष्म कहते हैं कि मोक्ष धर्मों में तत्पर, मिताहारी और जितेन्द्रिय पुरुष

ही प्रकृति से परे परब्रह्म के परमधाम को प्राप्त कर सकता है।[151] इस प्रसंग में भीष्म प्राचीन हारीत मुनि द्वारा दिए गए मुमुक्षु के आचरण सम्बन्धी उपदेश का उल्लेख करते हैं कि मुमुक्षु पुरुष लाभ और हानि में समान भाव रखकर मुनि वृत्ति से रहे और भोगों की आकांक्षा से रहित होकर संन्यास ग्रहण कर ले।[152] हारीत मुनि ने संन्यास को मोक्ष का ऐसा विमान कहा है जिस पर चलकर मनुष्य परम पद को प्राप्त कर लेता है।[153]

इस प्रकार महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त 20 अन्य गीताएँ उपलब्ध होतीं है जिनमें गूढ़ धार्मिक विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

संदर्भ–

1. लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते।।
   महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–अम्बरीषगीता – 31/10
2. महाभारत–वनपर्व–तीर्थयात्रापर्व–अष्टावक्रगीता – 132/3–17
3. द्रष्टास्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः।
   सह वादे विवृद्धे तु वन्दिनं चापि निर्जितम्।।
   महाभारत–वनपर्व–तीर्थयात्रापर्व–अष्टावक्रगीता – 133/14
4. महाभारत–वनपर्व–तीर्थयात्रापर्व–अष्टावक्रगीता – 133/2–21
5. ततोऽष्टावक्रमातुरथान्तिके पिता
   नदीं समङ्गां शीघ्रमिमां विशस्व।
   प्रोवाच चैनं स तथा विवेश
   समैरङ्गैश्चापि बभूव सद्यः।।
   महाभारत–वनपर्व–तीर्थयात्रापर्व–अष्टावक्रगीता – 134/39
6. धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
   मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता।।
   महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/3
7. यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।
   महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/15
8. महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/31–40
9. शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह।
   कथं त्वाशा समुत्पन्ना या चाशा तव तद्वद मे।।

   महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–ऋषभगीता – 125/1

10. न राजलक्षणत्यागो न पुरस्य तपोधनाः।
दुःखं करोति तत् तीव्रं यथाऽऽशा विहता मम।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–ऋषभगीता – 126/12

11. हिमवान् वा महाशैलः समुद्रो वा महोदधिः।
महत्त्वान्नान्वपद्येतां नभसो वान्तरं तथा।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–ऋषभगीता – 126/13

12. एतत् कारणसामर्थ्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–ऋषभगीता – 126/19

13. कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप।
X X X X
कृशाकृशे मया ब्रह्मन् गृहीते वचनात् तव।।
दुर्लभत्वं च तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–ऋषभगीता – 128/9, 10

14. दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात्।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–ऋषभगीता – 128/13

15. यत्तद्भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः।।
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 16/6, 7

16. श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
महाभारत–आवश्मेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 16/9

17. इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 16/13

18. कश्चिद्विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः।
आससाद द्विजं कञ्चिद्धर्माणामागतागमम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 16/19

19. पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 16/32

20. न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 16/30

21. जरारोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 16/37

22. कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते।
कथं कष्टाच्च संसारात्संसरन्परिमुच्यते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 17/2

23. कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः।
उपभुंक्ते क्ववा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 17/4

24. लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत्।
तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 18/10

25. यद्यच्च कुरूते कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 18/12

26. यच्च किञ्चित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 18/32

27. अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम्।
युञ्जतः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 19/15

28. आत्मवत्सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः।
अमानी निरभिमानः सर्वतो मुक्त एव सः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 19/3

29. जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 19/4

30. इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत्।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत्।।
तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत्।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 19/17, 18

31. यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत्।
न तस्येहेश्वरः कश्चित्त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 19/24

32. देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 19/26

33. बुद्धिमान श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव।
यः परित्यज्यते मर्त्यो लोकसारमसारवत।।
एतैरूपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–कश्यपगीता – 19/64, 65

34. यो न कामयते किंचिन्न किंचिदभिमन्यते।
इहलोकस्य एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 35/18

35. महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 36/12–34

36. अन्योन्यमथ रज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः।
अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे तथान्योन्यानुवर्तिनः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 39/2

37. विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत।
आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गतिमुत्तमाम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 40/8

38. अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः।
तेजसश्चेतना धातुः प्रज्ञासर्गः प्रजापतिः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 41/2

39. अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 42/1

40. महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 43/2–16

41. यदादिमध्यपर्यन्तं ग्रहणोपायमेव च।
नामलक्षण संयुक्तं सर्वे वक्ष्यामि तत्त्वतः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 44/1

42. महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/1–11

43. महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/16–25

44. महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 47/12–16

45. महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 51/14–20

46. अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 51/46

47. पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः।
किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिंल्लोके परत्रं च।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 290/3

48. धर्म एवं कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 290/6

49. पापं हि कर्म फलित पापमेव स्वयं कृतम्।
तस्मात्पापं न सेवेत कर्म दुःखफलोदयम्।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 291/6

50. न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम्।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/4

51. स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरीगीता – 292/10

52. यथोदयगिरौ द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्सन्निकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/4

53. दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/21

54. धर्म एव सदा नृणामिह राजन्प्रशस्यते।
धर्मवृद्धा गुणानेव सेवन्ते हि नरा भुवि।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 294/9

55. सर्वे वर्णा धर्मकार्याणि सम्यक्
कृत्वा राजन्सत्यवाक्यानि चोक्त्वा।
त्यक्त्वा धर्मं दारूणं जीवलोके
यान्ति स्वर्गं नात्र कार्यो विचारः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/39

56. एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु–
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 297/28

57. इत्युक्तो जनको राजन् यथातथ्यं मनीषिणा।

श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदमवाप ह।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 298/47

58. ब्राह्मणी ब्राह्मणं कञ्चिज्ज्ञानविज्ञानपारगम्।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्त्तारमब्रवीत्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 20/2

59. श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चरणौ करौ।
उपस्थं वायुरिति वा होतृणि दश भामिनि।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 21/2

60. घ्राणश्चक्षुश्च जिह्वा च त्वक् श्रोत्रं चैव पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 22/2

61. सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः।
सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 23/21

62. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 24/1

63. चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम्।
करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भविनि।।
चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 25/3

64. एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता।
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 26/1

65. एको गुरूर्नास्ति ततो द्वितीयो।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 26/2

66. एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 26/3

67. तस्मिन्वने सप्त महाद्रुमाश्च
फलानि सप्तातिथयश्च सप्त।
सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च
दीक्षाश्च सप्तैतदरण्यरूपम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 27/7

68. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 28/6

69. इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः।
आस्थितः सुमहाभागो ययौ सिद्धिं च दुर्गमां।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 30/33

70. अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशाम्यता।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–अम्बरीषगीता – 31/4

71. विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेचरोऽस्मि।
गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथास्मि।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 33/1

72. मया व्याप्तमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 33/2

73. मनो मे ब्राह्मणं विद्धि
बुद्धिं मे बिद्धि ब्राह्मणीम्।
क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः
सोऽहमेव धनञ्जय।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 34/12

74. बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत्।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/4

75. पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/7

76. आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/8

77. आमिषस्य परित्यागात्कुररः सुखमेधते।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/9

78. सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/10

79. अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/11

80. इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/12

81. एकाकी विचरिष्यामि कुमारीशंखको यथा।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–बोध्यगीता – 178/13

82. ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मप्रिगीता – 177/26

83. कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रवद्यते।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मप्रिगीता – 177/48

84. एतां बुद्धिं समास्थाय मंकिनिर्वेदमागतः।
सर्वान्कामान्परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम्।
दम्यनाशकृते मंकिरमृतत्वं किलागमत्
अच्छिनत्काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मप्रिगीता – 177/53, 54

85. तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं सदा।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाथ जायते।।
कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 183/78, 79

86. शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः।
पुण्येदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 184/21

87. राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता स वृहस्पतिः।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 185/26

88. महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 186/8–16

89. नाश्रोत्रियं देवहत्ये नियुञ्ज्या–
न्मोघं पुरा सिञ्चति तादृशो हि।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य
न वै तादृग् जुहुयादग्निहोत्रम्।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 186/19

90. सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद् यथावद् भरतर्षभ।
इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम्।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 187/57

91. क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तेत कृतं युगम्।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्तिता।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 188/27

92. यदा नैव रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः।
नैवान्तरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किञ्चना।।
तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे।।
महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता — 189/12, 13

93. अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।
विधातां सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम।।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा।।
महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता — 189/4, 5

94. सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः।।
महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता — 189/57

95. महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता — 190/15—88

96. कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः।।
सम्भूतः सम्भलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे।।
महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता — 190/93

97. महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता — 191/1—15

98. दयावान् सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः।।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितृन् देवांश्च पूजय।
महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता — 191/24

99. कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् राजा वर्तेत धार्मिकः।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामहः।।
महाभारत—शान्तिपर्व—राजधर्मानुशासनपर्व—वामदेवगीता — 92/1

100. धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम्।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम्।।
महाभारत—शान्तिपर्व—राजधर्मानुशासनपर्व—वामदेवगीता — 92/6

101. अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः।।
महाभारत—शान्तिपर्व—राजधर्मानुशासन—वामदेवगीता — 92/11

102. अ[illegible] वर्तेत न [illegible] सततं [illegible] बुधः।

दमं धर्मं च शीलं च क्षत्रधर्मं प्रजाहितम्।।

नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं सृजेत्।
न त्वरेत न चासूयेत् तथा संगृह्यते परः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासन–वामदेवगीता – 93/10

103. महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासन–वामदेवगीता – 93/13–18

104. यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
संतुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासन–वामेदवगीता – 94/3

105. अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/4

106. सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/5

107. अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/6

108. यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसं न खादन्ति नैव धर्मः प्रशस्यते।।
सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/8, 9

109. विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः।
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/10

110. यथा शरीरं न ग्लायेन्नेयान्मृत्युवशं यथा।
तथा कर्मसु वर्तेत समर्थो धर्ममाचरेत्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/14

111. महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व – 1/4–43

112. एवमाश्वासितस्तेन संजयेन महात्मना।
विदुरो भूय एवाह बुद्धिपूर्वं परंतप।।

महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व– 1/44

113. एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम्।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना।।

महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 2/10

114. नार्थो न धर्मो न सुखं यदेतदनुशोचसि।
न च नापैति कार्यार्थात्त्रिवर्गाच्चैव हीयते।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 2/29

115. यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पूरुषः।
अन्यद् रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम्।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 3/9

116. प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुतप्यसे।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 3/17

117. महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 4/2–10

118. यमदूतैर्विकृष्यंश्च मृत्युं कालेन गच्छति।
वाग्घीनस्य च यन्मात्रमिष्टानिष्टं कृतं मुखे।।
भूय एवात्मनाऽऽत्मानं बध्यमानमुपेक्षते।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 4/11

119. महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – पाँचवा अध्याय (सम्पूर्ण)

120. महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – छठा अध्याय (सम्पूर्ण)

121. महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 7/3–20

122. साधुः परमदुःखानां दुःखभैषज्यमाचरेत्।
ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम्।।
छिन्द्याद् दुःखमहाव्याधिं नरः संयतमानसः।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 7/21

123. कदा वयं करिष्यामः संन्यासं दुःखसंज्ञकम्।
दुःखमेतच्छरीराणां धारणं कुरूसत्तम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 279/3

124. निर्जितेनासहायेन हृतराज्येन भारत।
अशोचता शत्रुमध्ये बुद्धिमास्थाय केवलम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 279/14

125. सत्येन तपसा चैव विदित्सा संशयं ह्यहम्।
न शोचामि न हृष्यामि भूतानामागतिं गतिम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 279/16

126. तयोः संवदतोरेवमाजगाम महामुनिः।
सनत्कुमारो धर्मात्मा संशयच्छेदनाय वै।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 280/3

127. पादौ तस्य महीं विद्धि मूर्धानं दिविमित्युत।
बाहवस्तु दिशो दैत्य श्रोत्रमाकाशमेव च।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 280/21

128. तस्य तेजोमयः सूर्यो मनश्चन्द्रमसि स्थितम्।
बुद्धिर्ज्ञानगता नित्यं रसस्त्वप्सु प्रतिष्ठितः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 280/22

129. स ब्रह्म परमो धर्मस्तपश्च सदसच्च सः।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 280/26

130. अकिञ्चनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिञ्चनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/7

131. नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति
नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते
त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/22

132. धर्मो राजन् गुणश्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः।।
तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/8, 9

133. अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/13

134. अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/23

135. धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/27

136. नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/29

137. स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति–
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात् प्रियमप्रियं च।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/46

138. न कर्मणाऽऽप्नोत्यनवाप्यमर्थं
यद्भावि तद्वै भवतीति वित्त।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं
तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/48

139. भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 41/10

140. अस्यादेशान्निः सरते नराणां
क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः।
अहं गते नैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित्।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 42/7

141. सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्या
दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा
एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान्।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 42/12

142. क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम्।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 43/16

143. ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 44/24

144. महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 45/1

145. महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 45/3, 4

146. यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।।

महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 46/1

147. पृच्छामस्त्वां मोक्षधर्मं
भवांश्च किल मोक्षवित्।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/4

148. तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत्कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम्।
यत्कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धै–
र्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/6

149. इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन्विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/7

150. किं शीलः किं समाचारः किं विद्यः किं परायणः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/1

151. मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/2

152. स्वगृहादभिनिःसृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/3

153. मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत्।
x x x x
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथानन्त्याय कल्पते।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/21, 22

द्वितीय अध्याय
"महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में धर्म विवेचन"

धर्म भारतीय–संस्कृति का प्राण है। भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले वेदों के सम्पूर्ण वर्ण्य विषयों को धर्म का मूल माना गया है– 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। 'धर्म' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है– धारण करने वाला। धर्म ही ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने के योग्य बनाता है। "धारयते लोकम् इति धर्मः" व्युत्पत्ति सूचित करती है कि धर्म ही परिवार, समाज और राष्ट्र को एकसूत्र में पिरोने का कार्य करता है। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर ही महर्षि वेदव्यास ने बताया है–

'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।'

महाभारत–कर्णपर्व – 69/59

आचार्य हेमचन्द्र ने भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में इस पृथिवी को स्थिर रहने का कारण धर्म को ही मानकर अपने विचार प्रकट किए हैं–

'निरालम्बा निराधारा विश्वधारा वसुन्धरा।
यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यन्न कारणम्।।
आप्लावयति नाम्भोधि–राश्वासयति चाम्बुदः।
यन्मही, स प्रभावोऽयं ध्रुवं धर्मस्य नेतारः।।

योगशास्त्र – 4/80, 96

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है–

धर्मेण धार्यते लोकः।

चाणक्य सूत्र – 1

धर्मशास्त्रियों ने बताया है कि मानव व्यवहार के लिए उचित समस्त तत्त्व धर्म हैं। आचार्य मनु और याज्ञवल्क्य ने वेद, स्मृति, सदाचार एवं मन की प्रसन्नता को धर्म का मूल माना है–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

मनुस्मृति – 2/12

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

याज्ञवल्क्यस्मृति, आचार. – 7

आचार्य मनु ने इसी भाव को अपनी मनुस्मृति में अभिव्यक्त किया है–

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

मनुस्मृति – 2/6

और महर्षि याज्ञवल्क्य सम्यक् संकल्प से उत्पन्न 'काम' को भी धर्म मानते हैं। स्पष्ट है कि वेद धर्म के स्रोत हैं; स्मृतियाँ धर्म का स्रोत हैं; सज्जनों का आचरण एवं मनस्तुष्टि भी धर्म का स्रोत है। अतः वेद–शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार, सदाचारियों का अनुसरण करते हुए ऐसे कार्य करना धर्म है, जिनसे नैतिक उन्नति होने के साथ–साथ आत्मतुष्टि भी मिले। मानव के आचरण में जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश होना चाहिए, उनको दृष्टि में रखकर हमारे प्राचीन विद्वानों ने धर्म के लक्षण इस प्रकार बताए हैं–

(क) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

मनुस्मृति – 6/92

(ख) सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः।।

याज्ञवल्क्य स्मृतिः, प्रायश्चित्ताध्यायः – 66

(ग) (i) धर्मं सत्यं च तपो दमश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।

दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च
महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य।।
(ii) स्वाध्यायो व्रतचर्याथ ब्राह्मणानां परं धनम्।।
महाभारत–उद्योगपर्व – 45, 5; 185/1

महर्षि कणाद ने धर्माचरण के परिणाम को दृष्टि में रखकर कहा है–

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

वैशेषिक सूत्र

अर्थात् जिससे लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक उन्नति की सिद्धि होती है, वह धर्म है। भारतीय संस्कृति में भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति को समान रूप से महत्त्व दिया गया है। जो धर्म आध्यात्मिकता की ओर ध्यान न देकर केवल भौतिक उन्नति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है, वह एकाङ्गी है। क्योंकि भौतिक उन्नति के चक्र में प्रायः व्यक्ति सदाचारोन्मुख नहीं हो पाता। इसी प्रकार जो धर्म आध्यात्मिकता की ओर ही व्यक्ति को अग्रसर करता है; भौतिकता का त्याग करने की प्रेरणा देता है, वह भी एकांगी है। अतएव जिसमें भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति का समन्वित रूप हो, वही धर्म है।

'धर्म' शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ, परिभाषा, धर्म के स्रोत, धर्म के लक्षणादि को देखने से तथा समझने से कहा जा सकता है, जो कार्य और आचरण व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति करने में समर्थ हैं, वे धर्म हैं। इसके विपरीत अवनति की ओर अग्रसर करने वाला आचरण अधर्म है। अतएव व्यक्ति को वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्त्तव्य–पालन करना चाहिए; सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि का सेवन करना चाहिए; तथा अपने परिवार और समाज के प्रति उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए। इस प्रकार आत्मिक उन्नति के साथ–साथ राष्ट्रियोत्थान के लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिए।

महाभारत में उपलब्ध गीताओं में धर्म के स्वरूप, महत्त्व, लक्षण एवं विविध तत्वों इत्यादि का सविस्तार विवेचन किया गया है। इन गीताओं में धर्म को निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

(i) धर्म का स्वरूप व महत्त्व

धर्म को इहलोक व परलोक में परम कल्याणकारी कहा गया है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का उत्तम साधन नहीं है, यदि धर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाये। धर्म को जानकर उसका आश्रय लेने वाला मनुष्य स्वर्गलोक में सम्मानित होता है, वेदों में जो ''सत्यं वद, धर्मं चर, यजेत, जुहुयात्'' इत्यादि वाक्यों द्वारा मनुष्यों का कर्त्तव्य विधान किया गया है, वही धर्म का लक्षण है।[1]

धर्म से ही ऋषियों ने संसार समुद्र को पार किया है। धर्म पर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्म से ही देवताओं की उन्नति हुई है और धर्म में ही अर्थ की भी स्थिति है।[2] मन को वश में करके धर्म को प्रधान ध्येय बनाना चाहिए और सम्पूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा हम अपने लिए चाहते हैं।[3]

मनुष्य के लिए धर्म करने का कोई विशेष समय निश्चित नहीं है क्योंकि मृत्यु किसी का इन्तजार नहीं करती। जब मनुष्य सदा मौत के मुँह में ही है, तब नित्य निरन्तर धर्म का आचरण करते रहना ही शोभा की बात है।[4] पुरुषार्थ चतुष्ट्य में धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थ मध्यम है और काम सब की अपेक्षा लघु कहा गया है।[5] मनुष्य सबसे पहले धर्म का आचरण करे, फिर धर्मयुक्त धन का संग्रह करे, उसके बाद दोनों की अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्ग का संग्रह करने से मनुष्य सफल मनोरथ हो जाता है।[6]

इन गीताओं में युगानुसार धर्म की मात्रा की भी चर्चा की गई है। सत्ययुग में मनुष्यों के भीतर वृष रूप धर्म अपने चारों पादों से युक्त होने के कारण सम्पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित होता है। उसमें छल–कपट या दम्भ नहीं होता। त्रेता में वह धर्म, अधर्म के एक पाद से अभिभूत होकर अपने तीन अंशों से ही प्रतिष्ठित होता है। द्वापर में धर्म आधा ही रह जाता है। आधे में अधर्म आकर मिल जाता है। कलियुग आने पर अधर्म अपने तीन अंशों द्वारा सम्पूर्ण लोकों को आक्रान्त करके स्थित होता है और धर्म केवल एक पाद से मनुष्यों में प्रतिष्ठित होता है।[7]

इसी कारण कलियुग में सभी लोग कपटपूर्वक धर्म का आचरण

करेंगे और धर्म का जाल बिछाकर दूसरे लोगों को ठगते रहेंगें। अपने को पण्डित मानने वाले लोग सत्य का त्याग कर देंगे।[8]

(ii) धर्म के विविध तत्त्व

गीताओं में धर्म के विविध तत्त्वों का यत्र–तत्र उल्लेख किया गया है। ये तत्त्व हैं – सत्य, अहिंसा, तप, क्षमा, सत्संगति, दान, सदाचार, त्याग, अतिथिसत्कार, पंच महायज्ञ, निर्लोभ, धर्मानुसार धनार्जन, काम–क्रोध इत्यादि को त्यागना, माता–पिता व गुरुजनों की सेवा करना इत्यादि। इनका विवेचन इस प्रकार है–

(क) अहिंसा

अहिंसा को सर्वोत्तम कर्त्तव्य कहा गया है। यह साधन उद्वेगरहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्म को लक्षित कराने वाला है।[9] जो लोग प्राणियों की हिंसा करते हैं, नास्तिक वृत्ति का आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोह में फँसे हुए हैं, उन्हें नरक में गिरना पड़ता है।[10] इसी कारण हिंसात्मक कर्मों का त्याग करने का उपदेश दिया गया है।[11] अन्यत्र कहा गया है कि मनुष्य के प्रियजन यदि कोई हिंसात्मक कर्म उसके लिए करते हों तो वह उन सब कर्मों को रोक दे। दूसरे की आयु से अपनी आयु बढ़ाने की अर्थात् दूसरों के प्राण लेकर अपने प्राण बचाने की चेष्टा न करे।[12]

विचख्नु गीता में यज्ञीय हिंसा पर भी विचार किया गया है। इसमें कहा गया है कि जो धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो चुके हैं, मर्ख हैं, नास्तिक हैं तथा जिन्हें आत्मा के विषय में सन्देह है एवं जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगों ने ही हिंसा का समर्थन किया है। धर्मात्मा मनु ने सम्पूर्ण कर्मों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी इच्छा से यज्ञ की बाह्यवेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं।[13]

अतः विज्ञ पुरुष को उचित है कि वह वैदिक प्रमाण से धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करे। सम्पूर्ण भूतों के लिए जिन धर्मों का विधान किया गया है, उनमें अहिंसा सबसे बड़ी है।[14] यूप निर्माण के उद्देश्य से वृक्ष काटना और यज्ञ के उद्देश्य से पशु बलि देकर माँस खाना धर्म नहीं है, सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली, तिल तथा चावल की खिचड़ी – इन सब वस्तुओं को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है।[15]

(ख) सत्य

सत्य को अत्यधिक पावन वस्तु कहा गया है। जैसे जहाज समुद्र से पार होने का साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोक में पहुँचने की सीढ़ी है।[16] तप, इन्द्रिय संयम, सत्य भाषण और मनोनिग्रह आदि कार्यों को उत्तम कहा गया है।[17] जो सत्य, इन्द्रियसंयम, सरलता, दया, धैर्य और क्षमा का सेवन करता है, स्वाध्याय में लगा रहता है, दूसरे की वस्तु नहीं लेना चाहता तथा एकान्त में निवास करता है, वह ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है।[18] सत्य पाँच लक्षणों वाला है, ब्रह्म सत्य है, तप सत्य है और प्रजापति भी सत्य है। सत्य से ही सम्पूर्ण भूतों का जन्म हुआ है। यह भौतिक जगत् सत्य रूप ही है।[19]

(ग) तप

तपस्या का बहुत अधिक प्रभाव कहा गया है। मनुष्य, पितर, देवता, पशु, मृग, पक्षी तथा अन्य सभी चराचर प्राणी नित्य तपस्या में संलग्न होकर ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। तपस्या के बल से ही महामायावी देवता स्वर्ग में निवास करते हैं।[20] आरोग्य की साधनभूत औषधियाँ और नाना प्रकार की विद्याएँ तप से ही सिद्ध होती हैं। जिसको पाना, जिसका अभ्यास करना, जिसे दबाना और जिसकी संगति लगाना अत्यन्त कठिन है वह तपस्या से साध्य हो जाता है। शराबी, ब्रह्महत्यारे इत्यादि महापापी भी तपस्या करके पाप से छुटकारा पा सकते हैं।[21]

इस लोक में जो तपस्या सकाम भाव से की जाती है, उसका फल परलोक में भोगा जाता है, परन्तु जो निष्काम भाव से गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोक में तत्त्व ज्ञान रूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं)। इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्ध के भेद से दो प्रकार की है।[22] यह तपस्या सारे जगत् का मूल है, वेदवेत्ता विद्वान् इस निष्काम तप से ही परम अमृत मोक्ष को प्राप्त होते हैं। तप, इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह आदि कार्य सबसे उत्तम हैं।[24]

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि तपस्या पर सभी का अधिकार माना गया है। जितेन्द्रिय और मनोनिग्रह सम्पन्न हीन वर्ण के

लिए भी तप का विधान है क्योंकि तप पुरुष को स्वर्ग की राह पर लाने वाला है।[25]

(घ) क्षमा

क्षमा का महत्त्व भी इन गीताओं में उपलब्ध होता है। क्षमा, सत्य, सरलता और दया को श्रेष्ठ जन उत्तम कहते हैं।[26] जो दूसरे के द्वारा गाली दिए जाने पर भी बदले में उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्य का दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देने वाले को भस्म कर देता है और उसके पुण्य को भी ले लेता है।[27]

(ङ) अतिथि सत्कार

गीताओं में अतिथिसत्कार का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जो मौसम का विचार करके अपनी शक्ति के अनुसार प्यासे और भूखे अतिथि को ठंडा या गरम किया हुआ जल और अन्न पवित्र भाव से अर्पित करता है, वह उत्तम फल पाता है। इस सन्दर्भ में महात्मा रन्तिदेव व महाराजा शैव्य का उदाहरण दिया गया है।[28]

(च) पंच महायज्ञ

पंच महायज्ञ भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है। प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण–पोषण के योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने आप का भी ऋणी होकर जन्म लेता है अतः उसे उस ऋण से मुक्त होने का यत्न करना चाहिए। वेद–शास्त्रों का स्वाध्याय करके ऋषियों के, यज्ञ–कर्म द्वारा देवताओं के, श्राद्ध और दान से पितरों के तथा स्वागत–सत्कार, सेवा आदि से अतिथियों के ऋण से मुक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार वेद–वाणी के पठन, श्रवण एवं मनन से, यज्ञ–शेष अन्न के भोजन से तथा जीवों की रक्षा करने से मनुष्य अपने ऋण से मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बीजन के पालन–पोषण का आरम्भ से ही प्रबन्ध करना चाहिए। इससे उनके ऋण से भी मुक्ति हो जाती है।[29]

(छ) सत्संगति

धर्म पर दृष्टि रखने वाले सत्पुरुषों के संसर्ग में रहना ही श्रेष्ठ कहा गया है परन्तु किसी भी दशा में कभी दुष्ट पुरुषों का सङ्ग नहीं

करना चाहिए। जैसे सूर्य के सामीप्य से उदयाचल की प्रत्येक वस्तु चमक जाती है, उसी प्रकार साधु पुरुषों के निकट रहने से नीच वर्ण

का मनुष्य भी सद्गुणों से सुशोभित हो जाता है। श्वेत वस्त्र को जैसे रंग में रंगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है।[30] सत्पुरुषों के संग से मनुष्यों का स्वभाव सत्त्वगुण सम्पन्न हो जाता है।[31]

(ज) सदाचार

सुख में या दुःख में, जो मनुष्य सदाचार से कभी विचलित नहीं होता, वही शास्त्रों का ज्ञाता कहा गया है।[32]

(झ) दान

दान को परलोक के पथ में राह खर्च के समान कहा गया है। माता और पिता भी परलोक साधन में किसी की कुछ सहायता नहीं कर सकते। प्रत्येक जीव अपने कर्म का ही फल भोगता है।[33] परन्तु यह दान न्यायपूर्वक कमाए गए धन का ही होना चाहिए। प्राणों को कष्ट देकर भी यदि न्याय से कमाई गई थोड़ी सी कौड़ियों का भी दान किया जाये तो महान् फल देने वाली होतीं हैं।[34] स्वयं ही ब्राह्मण के पास जाकर उसे सन्तुष्ट करते हुए जो दान दिया जाता है– उसे प्रशंसनीय (उत्तम) दान कहा गया है और याचना करने पर जो कुछ दिया जाता है, उसे मध्यम श्रेणी का दान कहते हैं। अवहेलना अथवा अश्रद्धा से जो कुछ दिया जाता है उसे सत्यवादी मुनियों ने अधम श्रेणी का दान कहा है।[35]

दान सुपात्र को ही दिया जाना चाहिए। यह कभी नष्ट नहीं होता।[36] दान के प्रसंग में याचक और दाता की विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है। जो याचक धैर्य धारण कर सके अर्थात् किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर भी उसके लिए किसी से याचना न करे, वह दुर्लभ है एवं जो याचना करने वाले याचक की अवहेलना न करे – आदरपूर्वक उसकी इच्छा पूर्ण करे – ऐसा पुरुष संसार में अत्यन्त दुर्लभ है।[37] दान में भी गोदान की बहुत महिमा कही गई है। गोदान करने वाले मनुष्य उत्तमलोक में जाते हैं। छकड़े ढोने वाले बलवान बैलों का दान करने से दाता को सूर्यलोक की प्राप्ति होती है। वस्त्रदान से चन्द्रलोक और सुवर्णदान से अमरत्व की प्राप्ति होती है।[38]

गोदान की अपेक्षा बैल का दान अधिक महत्वपूर्ण कहा गया है। जो मनुष्य अच्छे स्वभाव वाले, शक्तिशाली, हल ढोने वाले, गाड़ी का बोझ ढोने में समर्थ, बलवान् और तरूण अवस्था वाले बैल का दान करता है, वह धेनुदान करने वाले पुरुष से दसगुना पुण्य लोक प्राप्त करता है।[39]

(ञ) त्याग

त्याग का महत्त्व इस प्रकार बताया गया है कि कोई मनुष्य त्याग किए बिना सुख नहीं पाता, त्याग किए बिना परमात्मा को नहीं पा सकता और त्याग किए बिना निर्भय नहीं सो सकता।[40] जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं को पा लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है– इन दोनों के कार्यों में समस्त कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा उनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है।[41]

(ट) सन्तोष

असन्तोष को दुःख का कारण कहा गया है। लोभ से मन और इन्द्रियाँ चंचल होतीं हैं। उससे मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे बिना अभ्यास के विद्या।[42]

(ठ) लोभ व तृष्णा का त्याग

लोभ व तृष्णा को त्याज्य कहा गया है। तृष्णा के वश में पड़ा हुआ मनुष्य संसार में नीच कर्मों की ओर दौड़ता है, सचेत नहीं होता। उससे प्रेरित होकर मनुष्य नहीं करने योग्य काम भी कर डालता है। उस दोष का नाम लोभ है। उसे ज्ञान रूपी तलवार से काटकर मनुष्य सुखी होता है।[43] लोभ से तृष्णा और तृष्णा से चिनता पैदा होती है। लोभी मनुष्य पहले बहुत से राजस गुणों को पाता है और उनकी प्राप्ति हो जाने पर तामसिक गुण भी अधिक मात्रा में आ जाते हैं। इन गुणों के द्वारा वह बारम्बार जन्म लेता और तरह–तरह के कर्म करता है।[44] इसलिए लोभ के स्वरूप को समझ कर उसे धैर्य पूर्वक दबाने और आत्म राज्य पर अधिकार पाने की इच्छा करनी चाहिए। यही वास्तविक स्वराज्य है। यहाँ दूसरा कोई राज्य नहीं है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वही राजा है।[45]

(ङ) सात शत्रुओं का त्याग

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता ये देहधारियों के सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ काम रूप शत्रु सबसे प्रबल है।[46] मोक्ष प्राप्ति के लिए काम, लोभ, तृष्णा व कृपणता को त्यागना आवश्यक है।[47]

(ढ) क्रोध का त्याग आवश्यक

क्रोध को अत्यन्त भयावह कहा गया है। क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है, अथवा जो हवन करता है, उसके उन सब कर्मों को यमराज हर लेते हैं। क्रोधी व्यक्ति का सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है।[48] जो दूसरों के क्रोध करने पर भी स्वयं बदले में प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्य को ग्रहण कर लेता है। जगत् में निन्दा कराने वाले और आवेश में डालने के कारण अप्रिय प्रतीत होने वाले प्रज्वलित क्रोध को जो व्यक्ति रोक लेता है वह पुरुष अपने शत्रुओं के पुण्य ले लेता है।[49] दूसरों के क्रोध करने पर भी जो कठोर या प्रिय कुछ नहीं कहता और धैर्य के कारण न उसे मारता है, न उसकी बुराई ही चाहता है, देवता भी ऐसे महात्मा से मिलने के लिए लालायित रहते हैं।[50]

(ज) धन के दोष

गीताओं में धन के अनेक दोष कहे गए हैं। सदा धन–सम्पत्ति का सहवास मूर्ख मनुष्य के चित्त को लुभाकर उसे मोह में ही डाले रहता है। जैसे वायु शरद् ऋतु के बादलों को उड़ाकर ले जाती है, उसी प्रकार वह सम्पत्ति मनुष्य के मन को हर लेती है।[51] धनी व्यक्ति मौत के मुँह में पड़े हुए व्यक्ति के समान सदा उद्विग्न रहता है।[52] धनवान् व्यक्ति क्रोध और लोभ के आवेश में आकर अपनी विचारशक्ति को खो बैठता है, वह पाप में ही मग्न रहा करता है।[53]

धन के मिलने पर उसकी रक्षा में बड़ी चिन्ता होती है। यदि वह मिलकर नष्ट हो जाए तो भी कष्ट होता है और उद्योग करने पर भी धन मिलेगा कि नहीं, यह निश्चय नहीं होता।[54]

धन प्राप्ति के लिए मनुष्य जानते हुए भी पाप कर्म करता है।

धन के कारण प्राप्त हुए सम्मान को प्राप्त करके वह अपमान से बचने के लिए प्रयत्न करता है। अधिक योग सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते–करते वह एक दिन नष्ट हो जाता है।[55] परन्तु जो मनुष्य धन को त्याग कर उसकी आसक्ति से मुक्त व निष्काम हो गया है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।[56]

मनुष्य को धर्म पूर्वक धनार्जन करने का उपदेश दिया गया है। वही सच्चा धन है। अधर्म से प्राप्त धन त्याज्य है। धन की इच्छा से शाश्वत् धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए।[57] धर्म करने के लिए भी न्याय को त्याग कर पाप मिश्रित मार्ग से धन का संग्रह नहीं करना चाहिए।[58]

(त) बड़ों का सम्मान

पराशर गीता में कहा गया है कि प्रत्येक पुरुष को इन्द्रिय संयमी और धर्मात्मा होकर समस्त प्राणियों को अपने ही समान समझना चाहिए। जो विद्या, तप और अवस्था में अपने से बड़े हों अथवा गुरु कोटि के लोग हों, उन सबकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिए। सत्य भाषण और अच्छे आचार–विचार से ही सुख मिलता है।[59] अन्यत्र कहा गया है कि जो अभिमान का त्याग करके वृद्ध पुरुषों की सेवा करता है, विद्वान् एवं काम–भोग में अनासक्त होकर सबको प्रेम भाव से देखता है, धर्म में संलग्न रहता है और दूसरों का दमन या हिंसा नहीं करता है, वह मनुष्य इस लोक में श्रेष्ठ है तथा सत्पुरुष भी उसका आदर करते हैं।[60]

(थ) सुख व दुःख का स्वरूप

सुख व दुःख की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जो अपने को प्रिय जान पड़ता है, उसे सुख कहते हैं जो मन के प्रतिकूल होता है, उसे दुःख कहते हैं। तपस्या करने से सुख और न करने से दुःख होता है।[61] इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, सन्तोष, सत्य–भाषण, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसन का अभाव तथा दक्षता – ये सब सुख देने वाले हैं।[62] कोई मनुष्य इस लोक में ही परम सुख पाता है, परलोक में नहीं।

किसी को परलोक में ही परम कल्याण की प्राप्ति होती है, इस लोक

में नहीं। किसी को इहलोक तथा परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है। किसी को दोनों में ही सुख की प्राप्ति नहीं होती।[63]

शरीर के सुख में आसक्त लोगों को इस लोक में ही सुख मिलता है। जो योग–साधना, तपस्या स्वाध्याय, अहिंसा व इन्द्रियसंयम में तत्पर रहते हैं उनके लिए परलोक में ही सुख है।[64] जो लोग धर्म का आचरण करते हैं, न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करके, यथासमय स्त्री से विवाह करके यज्ञ–याग में तत्पर रहते हैं, उनके लिए दोनों लोक सुखद हैं। जो मूर्ख न विद्या, न तप, न दान करते हैं, न धर्मपूर्वक सन्तानोत्पादन करते हैं उनके लिए दोनों ही लोकों में सुख नहीं है।[65]

(द) वाणी की विशेषताएँ

गीताओं में वाणी की मधुरता का उपदेश दिया गया है। किसी को मर्म में आघात न पहुँचाए, निष्ठुर वचन न बोले, उद्वेगकारी वचन न बोले। वचन रूपी बाणों से बिधा हुआ मनुष्य शोक में डूबा रहता है अतः विद्वान् पुरुष को वाग्बाण का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[66] व्यर्थ बोलने की बजाय मौन रहना अच्छा है, (यह वाणी की प्रथम विशेषता है), सत्य बोलना वाणी की दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणी की तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना वाणी की चौथी विशेषता है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।[67]

इस प्रकार महाभारत में उपलब्ध गीताओं में धर्म के विविध तत्त्वों या आचरण के नियमों का विशदता से विवेचन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

1. गीताओं में धर्म को इहलोक व परलोक में परम कल्याणकारी कहा गया है। उससे बढ़कर श्रेय का कोई उत्तम साधन नहीं है, यदि धर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में धर्म श्रेष्ठ है, अर्थ मध्यम है और काम सब की अपेक्षा लघु है।
2. धर्म के विविध तत्त्व इन गीताओं में यत्र–तत्र बिखरे हुए हैं। यथा – सत्य, अहिंसा, तप, क्षमा, सत्संगति, दान, सदाचार, त्याग, पंचमहायज्ञ इत्यादि।
3. विचख्नु हिंसा में यज्ञीय हिंसा पर भी विचार किया गया है और उसे सर्वथा निषिद्ध किया गया है।

संदर्भ

1. धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः।।
प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते।
धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 290 / 6, 7

2. धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167 / 7

3. तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167 / 9

4. न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना
यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 298 / 17

5. धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167 / 8

6. धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167 / 27

7. कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ।।
अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते।।
त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति।
तामसं युगमासाद्य तदा भारतसत्तम।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 190 / 9–11

8. व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः।
सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 190 / 14

9. अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम्।
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 50/2

10. हिंरगपराश्च ये केचिद् ये च नास्तिक वृत्तयः।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 50/4

11. तस्मादहं ब्रवीमि त्वां राजन् संचिन्त्य शास्त्रतः।
भजन्ते तानि चाद्यापि ये बालिशतरा नराः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 294/24

12. स्निग्धैश्च क्रियमाणानि कर्माणीह निवर्तयेत्।
हिंसात्मकानि सर्वाणि नायुरिच्छेत् परायुषा।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 297/9

13. अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता।।
सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/4, 5

14. तस्मात् प्रमाणः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/6

15. यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते।।
सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–विचख्नुगीता – 265/8, 9

16. सर्वांश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान्।
न पावनतमं किंचित् सत्याद्ध्यगमं क्वचित्।।
आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रति संचरन्।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिवं।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/30, 31

17. इदं कार्यममृताशाः श्रृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्

प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/7

18. सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामति सेवमानः।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा–
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् सः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/29

19. सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम्।
ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः।।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 35/33, 34

20. मनुष्याः पितरो देवाः पशवो मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि वसानि स्थावराणि च।।
तपः परायणा नित्यं सिद्धयन्ते तपसा सदा।
तथैव तपसा देवा महामाया दिवं गताः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 51/19, 20

21. औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः।
तपसैव प्रसिद्धयन्ति तपोमूलं हि साधनम्।।
यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम्।
तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्।।
सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यते किल्विषात् ततः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 51/16–18

22. अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम्।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 43/10

23. तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 43/13

24. इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/7

25. तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/14

26. आक्रुश्यमानो न वदामि किंचित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/12

27. आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/16

28. अपो हि प्रयतः शीतास्तापिता ज्वलनेन वा।
शक्तितोऽतिथये दत्त्वा क्षुधार्तायाश्नुते फलम्।।
रन्तिदेवेन लोकेष्टा सिद्धिः प्राप्ता महात्मना।
फलपत्रैरथो मूलैर्मुनीनर्चितवांश्च सः।।
तैरेव फलपत्रैश्च स माठरमतोषयत्।
तस्माल्लेभे परं स्थानं शैव्योऽपि पृथिवीपतिः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/6–8

29. देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत्।।
स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च।।
वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/9–11

30. सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः।।
यथोदयगिरौ द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संगनिकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते।।
यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/3–5

31. यथा तिलानामिह पुष्पसंश्रयात्
पृथक्पृथग्याति गुणोऽतिसौम्यताम्।
तथा नराणां भुवि भावितात्मनां
यथाऽश्रयं सत्त्वगुणः प्रवर्तते।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 298/13

32. सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तमम्।
सुवृत्ताद् यो न चलते शास्त्रचक्षुः स मानवः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/31

33. न माता न पिता किंचित् कस्यचित् प्रतिपद्यते।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 298/39

34. प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महाफलाः।
न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/16

35. अभिगम्य च तत् तुष्ट्या दत्तमाहुरभिष्टुतम्।
याचितेन तु यद् दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः।।
अवज्ञया दीयते यत् तथैवाश्रद्धयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/18, 19

36. चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रेन नश्यति।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 298/3

37. दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात्।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–ऋषभगीता – 128/13

38. परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति
दत्त्वानड्वाहं सूर्यलोकं व्रजन्ति।
वासो दत्त्वा चान्द्रमसं तु लोकं
दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 186/8

39. अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यम्।
धुरन्धरं बलवन्तं युवानं
प्राप्नोति लोकान् दश धेनुदस्य।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 186/10

40. नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/22

41. यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।

प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मङ्किगीता – 177/16

42. असंतोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिताः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/25

43. यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–अम्बरीषगीता – 31/8, 9

44. लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते।
स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान्।।
तदवाप्तौ नु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान्।
स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः
पुनः पुनर्जायति कर्म चेहते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–अम्बरीषगीता – 31/10, 11

45. तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं
निगृह्य धृत्यात्मनि राज्यमिच्छेत्।
एतद् राज्यं नान्यदस्तीह राज्य
मात्मैव राजा विदितो यथावत्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–अम्बरीषगीता – 31/12

46. आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखा।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मङ्किगीता – 177/52

47. तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मङ्किगीता – 177/46

48. यत् क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघः श्रमो भवति हि क्रोधनस्य।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/27

49. परश्चेदेनमतिवादबाणै
र्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य।।
क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकं

निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम्।

अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/10, 11

50. यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छन्ति तस्य हन्तु–
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/17

51. श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम्।
सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/16

52. आकिंचन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/11

53. धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/14

54. ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मङ्किगीता – 177/26

55. स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः।
बालस्नेहपरीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते।।
ततो मानेन सम्पन्नो रक्षन्नात्मपराजयम्।
करोति येन भोगी स्यामिति तस्माद् विनश्यति।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/8, 9

56. नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/12

57. येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/19

57. (i) न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत् कल्याणमुच्यते।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 294/25

(ii) न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत्।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत्।।
महाभारत—शान्तिपर्व—मोक्षधर्मपर्व—पराशरगीता – 292/5

59. (i) दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो
भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत्।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या
सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र।।
महाभारत—शान्तिपर्व—मोक्षधर्मपर्व—पराशरगीता – 291/23

(ii) अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम्।।
महाभारत—शान्तिपर्व—मोक्षधर्मपर्व—पराशरगीता – 292/22

60. मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीबः पश्यति प्रीतियोगात्।
दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो न दान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः।।
महाभारत—शान्तिपर्व—मोक्षधर्मपर्व—पराशरगीता – 292/23

61. यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते।
कृताकृतस्य तपसः फलं पश्यस्व यादृशम्।।
महाभारत—शान्तिपर्व—मोक्षधर्मपर्व—पराशरगीता – 295/7

62. दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः।।
महाभारत—शान्तिपर्व—मोक्षधर्मपर्व—पराशरगीता – 290/20

63. इह वैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह।
इह वामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह।।
महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता – 183/88

64. धनानि येषां विपुलानि सन्ति
नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको
नासौ सदा देहसुखे रतानाम्।।
ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः।
स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान्।
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ता—
स्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः।।

महाभारत—वनपर्व—मार्कण्डेयगीता – 183/89, 90

65. ये नैव विद्यां न तपो न दानं
न चापि मूढाः प्रजने यतन्ति।
न चानुगच्छन्ति सुखानि भोगां
स्तेषामयं नैव परश्च लोकः।
सर्वे भवन्तस्त्वतिवीर्यसत्त्वा
दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः
स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः।।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 183/92, 93

66. नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
यथास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद्रुषतीं पापलोक्याम्।
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति राव्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/8, 9

67. अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/38

तृतीय अध्याय
महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में आश्रम धर्म

प्राचीन समाज को व्यवस्थित करने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने आश्रम–चतुष्ट्य के सिद्धान्त की कल्पना की। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी जाती थी और इस आयु के चार विभाग किए गए। प्रत्येक विभाग की अवधि पच्चीस वर्ष की मानी गई। ये चार विभाग ही 'आश्रम' के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'आश्रम' शब्द आ उपसर्ग पूर्वक 'श्रम्' धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ गुरुकुल और ऋषि–मुनियों का निवास स्थान भी है। किन्तु यहाँ पर 'आश्रम' शब्द का अर्थ है– मनुष्य जीवन के चार पड़ाव। ये चार आश्रम या पड़ाव हैं– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। प्राचीन भारत का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इन चारों आश्रमों में रूकते हुए अपनी लोकयात्रा को पूरी करता था। यह आश्रम व्यवस्था ही मनुष्य को सम्पूर्ण बनाकर उसे चरम लक्ष्य तक पहुँचाती थी। महाकवि कालिदास ने आश्रम–व्यवस्था को अपनाना प्रशंसनीय मानते हुए ही अपने काव्यनायक रघुवंशियों के लिए अधोलिखित उद्‌गार अभिव्यक्त किये हैं–

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

रघुवंश – 1/8

अर्थात् शैशवावस्था में विद्या का अभ्यास करने वाले (ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाले) युवावस्था में विषयों की इच्छा करने वाले (गृहस्थ का आचरण करने वाले) वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण करने

वाले (वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले) तथा अन्त में योग से शरीर छोड़ देने वाले (संन्यास धारण करने वाले) रघुवंशियों का मैं वर्णन करता हूँ।

अधोलिखित श्लोक भी आश्रम व्यवस्था की अनिवार्यता का उद्घोष करता है–

आद्ये वयसि नाधीतं, द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति।।

स्पष्ट है कि आश्रमव्यवस्था का उद्देश्य है– मनुष्य का सामाजिक नियमों में आबद्ध होकर अपनी आयु के अनुसार व्यक्तिगत उन्नति से सम्बद्ध कर्त्तव्यों का पालन करना। आश्रम शब्द की धातु 'श्रम्' का अर्थ है– उद्योग। यदि चारों आश्रमों के प्रमुख कर्त्तव्यों पर दृष्टिपात किया जाए तो सहज ही समझ में आ सकता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययनात्मक श्रम की अपेक्षा रहती है; गृहस्थाश्रम में रचनात्मक श्रम आवश्यक है; वानप्रस्थाश्रम में तपस्यात्मक श्रम किया जाता है; और संन्यासाश्रम में योगसाधना रूप श्रम किया जाता है।

महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में भी चारों आश्रमों का उल्लेख किया गया है।[1] इनमें ब्रह्मचर्य प्रथम आश्रम है, गार्हस्थ्य दूसरा और वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है, उसके बाद संन्यास आश्रम है। इसमें आत्मज्ञान की प्रधानता होती है, अतः इसे परमस्वरूप समझना चाहिए।[2] महाभारत में वर्णित गीताओं में चारों आश्रमों का विशेष विवेचन इस प्रकार है–

(क) ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम मानव के सफल जीवन की आधारशिला है। इस आश्रम में रहते हुए ही व्यक्ति अपने भौतिक और आध्यात्मिक विकास का शुभारम्भ कर सकता है। मानव–जीवन के षोडश संस्कारों में उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्त्तन ये तीन संस्कार इसी आश्रम के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्म उपपदपूर्वक चर् धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है, श्रेष्ठ आचरण करना। महाभारतकार वेदव्यास ने श्रेष्ठ आचरण करने वाले को 'ब्रह्मचारी' कहा है और उनके मत में

ब्रह्मचारी वह है, जो गुरु की सेवा करता है; संयमित आचरण करता है, इन्द्रियों को वश में रखता है; केवल ब्रह्मज्ञान की इच्छा करता है–

(क) ये गुरुन् पर्युपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः।

महाभारत–शान्तिपर्व – 192/4 का पूर्वार्ध

(ख) ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः।
अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्माणि स्थितः।।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व – 26/15–16

महाभारत में वर्णित गीताओं में ब्रह्मचर्य व ब्रह्मचारी का पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है। ब्राह्मण गीता में ब्रह्मचारी की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि कामनाओं के द्वारा इन्द्रिय सुख में परायण मनुष्य कामचारी व इन्द्रियसंयम में प्रवृत्त रहने वाला पुरुष सदा ही ब्रह्मचारी है।[3] जो व्रत और कर्मों का त्याग करके केवल ब्रह्म में स्थित है, वह ब्रह्मस्वरूप होकर संसार में विचरता रहता है, वही मुख्य ब्रह्मचारी है।[4] विद्वानों ने इसी को सूक्ष्म ब्रह्मचर्य बतलाया है। तत्त्वदर्शी का उपदेश पाकर प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष इस ब्रह्मचर्य के स्वरूप को जानकर सदा उसका पालन करते रहते हैं।[5]

अन्यत्र ब्रह्मचर्य का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के पालन से देवताओं ने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियों ने ब्रह्मलोक को प्राप्त किया।[6] रसभेदरूप चिन्तामणि से याचना करने वालों को जैसे उनके अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करने वाला है।[7] जो इस ब्रह्मचर्य का आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम–नियमादि तप का आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीर को भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालक की भाँति राग–द्वेष से शून्य हो जाता है और अन्त समय में वह मृत्यु को भी जीत लेता है।[8]

यह ब्रह्मचर्य ब्रह्मविद्या को भी प्राप्त कराता है। बुद्धि में मन के लीन हो जाने पर सब वृत्तियों का निरोध करने वाली ब्रह्मविद्या की

प्राप्ति ब्रह्मचर्य से ही होती है।[9] जो लोग आचार्य के आश्रम में प्रवेश कर अपनी सेवा से उनके अन्तरङ्ग भक्त होकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे यहाँ शास्त्रकार हो जाते हैं और देह त्याग के पश्चात् परम योग रूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।[10]

ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर तपस्या पूर्वक वेदों का अध्ययन करना चाहिए।[11] मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह पहले सब प्रकार के संस्कारों से सम्पन्न होकर वेदोक्त विधि से अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। तत्पश्चात् वह समावर्तन संस्कार करके उत्तम गुणों से युक्त कुल में विवाह करे।[12]

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य बताते हुए कहा गया है कि वह अपने धर्म में तत्पर रहे, विद्वान् बने, सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अधीन रखे, मुनिव्रत का पालन करे, गुरु का प्रिय और हित करने में लगा रहे, सत्य बोले और धर्मपरायण व पवित्र रहे।[13] आगे कहा गया है कि वह गुरु की आज्ञा लेकर भोजन करे, अन्न की निन्दा न करे, एक स्थान पर रहे, एक आसन से बैठे और नियत समय में भ्रमण करे। दोनों समय अग्नि में हवन करे। सदा बेल या पलाश का दण्ड लिए रहे। रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे। वह मूँज की मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेद के स्वाध्याय में लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रत का पालन करे।[14] नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का उल्लेख भी गीताओं में प्राप्त होता है।[15]

ब्रह्मचर्य के चार चरण बताए गए हैं। नित्य गुरु को प्रणाम करना, बाहर–भीतर से पवित्र होकर प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में मन लगाना, अभिमान न करना, मन में क्रोध को स्थान न देना ब्रह्मचर्य का पहला चरण है।[16]

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्म से आचार्य का व उनकी पत्नी और पुत्र का प्रिय करना व सम्मान करना ब्रह्मचर्य का दूसरा चरण है।[17] आचार्य के द्वारा किए गए उपकार का विचार करके मन ही मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्य के प्रति कृतज्ञता का भाव रखता है, वह ब्रह्मचर्य का तृतीय पाद है।[18]

आचार्य के उपकार का बदला चुकाए बिना अर्थात् गुरु दक्षिणा आदि के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट किए बिना विद्वान् शिष्य वहाँ से न जाए। दक्षिणा देकर या गुरु की सेवा करके आत्मश्लाघा का भाव मन में न लाए। यह ब्रह्मचर्य का चतुर्थ चरण है।[19] ब्रह्मचर्य का महत्त्व इतना अधिक था कि उसका पालन करने वाले बालक भी वृद्धों के समान सम्मान के पात्र थे। अष्टावक्र व द्वारपाल की बातचीत के प्रसंग में ऐसा कहा गया है।[20]

(ख) गृहस्थ आश्रम

गृहस्थाश्रम व्यक्ति के जीवन का वह भाग है, जिस पर उसकी, उसके परिवार की, समाज की और राष्ट्र की उन्नति निर्भर करतती है। यह मानव जीवन का वह स्वर्णिमकाल है, जिसमें वह धर्म, अर्थ और काम – इन तीन पुरुषार्थों का यथोचित सेवन कर सकता है। महर्षि वेदव्यास ने मानव जीवन के चार भागों में से दूसरा भाग इसी आश्रम के लिए निर्धारित करके इसकी अनिवार्यता को अभिव्यक्त किया है–

धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधो भवेद्व्रती।।

महाभारत–शान्तिपर्व – 242/30

आचार्य मनु और याज्ञवल्क्य ने भी मनुष्य के लिए विधान किया है कि वह ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में विधिपूर्वक प्रवेश करे और शुभलक्षण सम्पन्न स्त्री से विवाह करे–

(क) ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्।

जाबालोपनिषद् – 4/21

(क) अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।

मनुस्मृति – 3/2 का उत्तरार्ध

(ख) अविलुप्तब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्।।

याज्ञवल्क्यस्मृति – 1/52

(ग) समापितब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेद्।

गरुडपुराण – 15/2

गृहस्थाश्रम के लिए आयु का दूसरा भाग इसलिए निर्धारित किया गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति का बौद्धिक विकास होता है, इसके पश्चात् ही वह आत्मिक विकास करने में समर्थ होता है। ज्ञानसम्पन्न और बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति ही गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है और व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकता है। हमारे ग्रन्थों में यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण, वेदशास्त्र श्रवण, सन्तानोत्पादन, त्रिवर्गसेवन आदि बहुत से कर्त्तव्य गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित बताए गए हैं।

महाभारत में वर्णित गीताओं में गृहस्थ के स्वरूप व कर्त्तव्यों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। गृहस्थ आश्रम का विधान सभी वर्णों के लिए किया गया है।[21] पराशर कहते हैं कि घर का आश्रय लेते ही मनुष्य का गौ, खेती–बारी, धन–दौलत, स्त्री–पुत्र तथा भरण–पोषण के योग्य अन्यान्य कुटुम्बी जनों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।[22] गृहस्थ पुरुष को प्रायः राजस और तामस भावों के संसर्गवश पदार्थ और व्यक्तियों में ममता हो जाती है।[23] परन्तु गृहस्थ पुरुष को सदा बिना प्रयत्न अपने आप प्राप्त हुए विषयों का ही सेवन करना चाहिए और प्रयत्न करके तो अपने धर्म का ही पालन करना चाहिए।[24]

गृहस्थ को सर्वथा अपने कर्त्तव्य का निश्चय करके स्वधर्म का पालन करते हुए कुशलतापूर्वक यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मों का अनुष्ठान करने का उपदेश दिया गया है।[25] अपनी ही स्त्री पर प्रेम रखना, सत्पुरुषों के आचार का पालन करना और जितेन्द्रिय होना गृहस्थ के लिए परम आवश्यक है, साथ ही गृहस्थ को इन्द्रिय संयम पूर्वक व श्रद्धापूर्वक पंचमहायज्ञों के द्वारा देवता आदि का यजन करना चाहिए।[26] प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण–पोषण के योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने आप का भी ऋणी होकर जन्म लेता है, अतः उसे उस ऋण से मुक्त होने का यत्न करना चाहिए।[27]

वेद शास्त्रों का स्वाध्याय करके ऋषियों के, यज्ञ कर्म द्वारा

देवताओं के, श्राद्ध और दान से पितरों के तथा स्वागत–सत्कार, सेवा

आदि से अतिथियों के ऋण से मुक्ति होती है।[28] इसी प्रकार वेद–वाणी के पठन, श्रवण और मनन से, यज्ञ शेष अन्न के भोजन से तथा जीवों की रक्षा करने से मनुष्य अपने ऋण से मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बी जन के पालन–पोषण का आरम्भ से ही प्रबन्ध करना चाहिए। इससे उनके ऋण से भी मुक्ति हो जाती है।[29]

गृहस्थ के लिए इस संसार के सभी विधि निषेध रूप शास्त्र में पारंगत होने की अपेक्षा की गई है।[30] गृहस्थ को हाथ, पैर, नेत्र, वाणी तथा शरीर के द्वारा होने वाली चपलता का त्याग करना चाहिए अर्थात् वह इनके द्वारा कोई अनुचित कार्य न होने दे।[31]

वह सदा यज्ञोपवीत धारण करे, स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रत का पालन करे, शौच सन्तोष आदि नियमों और सत्य–अहिंसा आदि यमों के पालन पूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे। जिह्वा व उपस्थ को काबू में रखे। सबके साथ मित्रता का व्यवहार करे, बाँस की छड़ी और जल से भरा हुआ कमण्डलु सदा साथ रखे।[32]

गृहस्थ को उपदेश दिया गया है कि धर्म का पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्म से प्राप्त होता है, वह धन तो धिक्कार के योग्य है। संसार में धन की इच्छा से शाश्वत् धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए।[33]

गृहस्थ को देवता व अतिथि को भोजन कराने के बाद बचे हुए अन्न का स्वयं आहार करना चाहिए। वह अपनी शक्ति के अनुसार प्रसन्नता पूर्वक यज्ञ करे और दान दे।[34]

इन गीताओं में गृहस्थाश्रम को सर्वोपरि कहा गया है। जैसे सम्पूर्ण नदियाँ और नद समुद्र में जाकर मिलते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रम गृहस्थ का ही सहारा लेते हैं।[35] गृहस्थ आश्रम अन्य सभी आश्रमों का मूल कहा गया है।[36]

(ग) वानप्रस्थ आश्रम

'वानप्रस्थ' शब्द का अर्थ है, वन की ओर प्रस्थान करना। कालिदास का सिद्धान्त 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम' (रघुवंश – 1/8) भी बताता है कि वृद्धावस्था का आविर्भाव होने पर व्यक्ति को वन में,

भोगविलास से दूर रहकर, मुनिवृत्ति को अपनाना चाहिए। आचार्य मनु का मानना है कि जब गृहस्थ को अपनी चमड़ी ढीली लगने लगे; बालों में सफेदी दृष्टिगोचर होने लगे; और पुत्र का भी पुत्र हो जाए, तब वन का आश्रय लेकर वानप्रस्थी बनना चाहिए; और अपने साथ गृहस्थाश्रम सम्बन्धित अग्नियों को भी अग्निहोत्रादि की दृष्टि से रखना चाहिए–

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्।
X X X X X
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः।।

मनुस्मृति – 6/1, 2, 4

वानप्रस्थ में प्रवेश का यह अर्थ कभी भी न था कि अपने कर्त्तव्यों का पालन किए बिना ही मुनिवृत्ति अपनाई जाए। इसलिए वानप्रस्थाश्रम की ओर उन्मुख गृहस्थ को सचेत कर दिया गया है कि वह ऋणों से मुक्त हो ले तथा निश्चिन्त हो जाए कि उसका परिवार उसके बिना भी चल सकता है, उसका पुत्र कर्त्तव्यनिष्ठ हो, गृहभार धारण करने में समर्थ हो, तभी वह वनगमन करे।

पराशर ऋषि भी यही कहते हैं कि अपने पुत्र को घरबार की रक्षा में नियुक्त करके कल्याण मार्ग में स्थित होकर केवल धर्मपालन की इच्छा रखकर मनुष्य को वन को प्रस्थान करना चाहिए।[37]

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीन द्विजातियों के लिए वानप्रस्थ आश्रम का विधान है। वन में रहकर मुनि वृत्ति का सेवन करते हुए फल–मूल और वायु के आहार पर जीवन निर्वाह करने से वानप्रस्थ के आहार पर जीवन निर्वाह करने से वानप्रस्थ धर्म का पालन होता है।[38]

वानप्रस्थ मुनि को सब प्रकार के संस्कारों के द्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए घर की ममता त्याग कर गाँव से

बाहर निकलकर वन में निवास करना चाहिए। वह मृगचर्म अथवा वल्कल वस्त्र पहने। प्रातः और सायंकाल के समय स्नान करे। सदा वन में ही रहे।[39] वह अतिथि को आश्रय दे और समय पर उनका सत्कार करे। जंगली फल, मूल, पत्ता अथवा सावाँ खाकर जीवन–निर्वाह करे। बहते हुए जल, वायु आदि सब वन की वस्तुओं का ही सेवन करे।[40]

इन्द्रियों का संयम करे, सबके साथ मित्रता का बर्ताव करे, क्षमशील बने और दाढ़ी–मूँछ तथा सिर के बालों को धारण किए रहे। समय पर अग्निहोत्र और वेदों का स्वाध्याय करे तथा सत्य–धर्म का पालन करे। शरीर को सदा पवित्र रखे। धर्म पालन में कुशलता प्राप्त करे। सदा वन में रहकर चित्त को एकाग्र करे। इस प्रकार उत्तम धर्मों का पालन करने वाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्ग पर भी विजय पाता है।[41]

(घ) संन्यासाश्रम

'संन्यास' शब्द का अर्थ है – सम्यक् त्याग (वामनशिवराम आप्टे, संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश, पृ. सं. 559)। संन्यास आश्रम मानव–जीवन का वह चौथा पड़ाव है, जहाँ मानव सांसारिकता से पूर्ण विरक्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण के मतानुसार काम्य कर्मों का परित्याग और कर्त्तव्य कर्मों के फल का त्याग ही संन्यास है–

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

श्रीमद्भगवद्गीता – 18/2

'संन्यास' की परिभाषा के आधार पर ही 'संन्यासी' की परिभाषा भी द्रष्टव्य है–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः।

श्रीमद्भगवद्गीता – 6/1

अर्थात् कर्मफल की इच्छा न करने वाला, कर्त्तव्य कर्म करने वाला पुरुष ही संन्यासी और योगी होता है। अग्नि और कार्य छोड़ देने

वाला व्यक्ति ही संन्यासी नहीं हो जाता। अतएव कृष्ण की दृष्टि में कर्मफल के प्रति अनासक्त और करणीय कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा को ही संन्यासी का आवश्यक गुण माना है।

हमारे भारतवर्ष में वैदिककाल से ही व्यक्ति के संन्यस्त होने की परम्परा रही है और उसे संन्यासी, मुनि, यति, भिक्षु आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता रहा है।

स्मृतियों और पुराणों के मतों का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि मानव को वन में ही रहते हुए आयु के तृतीय भाग – अर्थात् वानप्रस्थाश्रम को बिताकर, आयु के चतुर्थ भाग में सर्वपदार्थासक्ति का परित्याग करके, संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए–

(क) वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्।।

मनुस्मृति – 6/33

(ख) एवं वनाश्रमे तिष्ठन् पातयंश्चैव किल्विषम्।
चतुर्थमाश्रमं गच्छेत् संन्यासविधिना द्विजः।।

हारीतस्मृति – 6/2

(ग) यतिधर्मं प्रवक्ष्यामि ज्ञानमोक्षादिदर्शकम्।
चतुर्थमायुषो भागं प्राप्य सङ्गात् परिव्रजेत्।।

अग्निपुराण – 161/1

हारीत गीता में यही उपदेश दिया गया है कि मुमुक्षु पुरुष को लाभ और हानि में समान भाव रखकर मुनि वृत्ति से रहना चाहिए और भोगों के उपस्थित होने पर भी उनकी आकांक्षा से रहित होकर अपने घर से निकलकर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। वह सबके सुख में सुख माने और सबके साथ मित्रता रखे।[42]

संन्यासी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिसकी भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ नष्ट होने वाली हैं और प्राणियों के आवागमन को देख और सोचकर जो सर्वत्र निःस्पृह और समदर्शी हो गया है। पके और कच्चे से जीवन निर्वाह करता है, आत्म–लाभ के

लिए जो शान्त चित्त हो गया है तथा जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है,

वही वास्तव में संन्यासी कहलाने योग्य है।[43] संन्यासी को महामनस्वी, जितेन्द्रिय, असङ्ग, मठ और कुटिया से रहित तथा एकाग्रचित्त होना चाहिए। उसे अपने पूर्व आश्रम के परिचित स्थान में नहीं विचरना चाहिए।[44]

वह समभाव से रहे, निश्चल व स्थिरचित्त हो, पुण्य व पाप का अनुसरण न करे। तृप्त और सन्तुष्ट रहे। भय को पास न आने दे। प्रणव का जाप करे और वैराग्य का आश्रय लेकर मौन रहे।[45] संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ इनके वेगों को सहन करता हुआ इन्हें वश में रखे। दूसरों के द्वारा की गई निन्दा उसके हृदय में विकार उत्पन्न न करे।[46]

वह न हिंसा करे, न पीड़ा दे, मित्र भाव रखे, शत्रुता न करे। निन्दा या कटु वचनों को चुपचाप सुन ले। अहंकार या घमण्ड न प्रकट करे।[47]

जब रसोई घर में धुँआ निकलना बन्द हो जाए, मूसल अलग रख दिया जाए, चूल्हा बुझ जाए, घर के लोग भोजन कर चुके हों, उस समय संन्यासी मुनि को भिक्षा प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे केवल प्राणयात्रा के निर्वाह मात्र का यत्न करना चाहिए। भिक्षा न मिलने पर पीड़ा और मिल जाने पर हर्ष का अनुभव नहीं करना चाहिए।[48] वह अपने धर्म का प्रदर्शन न करे। उसे रजोगुण से रहित होकर निर्जन स्थान में विचरना चाहिए। रात को सोने के लिए सूने घर, जंगल, वृक्ष की जड़, नदी के किनारे अथवा पर्वत की गुफा का आश्रय लेना चाहिए। किन्तु वर्षाकाल में किसी एक ही स्थान पर रहना उचित है। वह कीड़े की तरह धीरे–धीरे समूची पृथ्वी पर विचरता रहे और यात्रा के समय जीवों पर दया करके पृथ्वी को अच्छी तरह देखभाल कर पाँव आगे रखे। किसी प्रकार का संग्रह न करे और कहीं भी आसक्तिपूर्वक निवास न करे।[49]

वह अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव, दोष–दृष्टि का त्याग, इन्द्रिय संयम और चुगली न करना इन आठ व्रतों का पालन करे।[50] मिट्टी, जल, अन्न, पत्र, पुष्प और फल ये वस्तुएँ किसी और के

अधिकार में न हों तो आवश्यकता पड़ने पर क्रियाशील संन्यासी इन्हें काम में ले सकता है।[51] कामना युक्त व हिंसा से युक्त कर्म न स्वयं करे न कराए।[52]

जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटा ले। इन्द्रिय, मन और बुद्धि को दुर्बल करके निश्चेष्ट हो जाए। सम्पूर्ण तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करे।[53] कर्मों के त्याग रूप इस संन्यास का फल वे अविनाशी परमात्मा हैं।[54] इस प्रकार गीताओं में आश्रमधर्म का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

1. समस्त आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वोपरि कहा गया है। जैसे सम्पूर्ण नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं वैसे ही समस्त आश्रम गृहस्थ का ही सहारा लेते हैं। गृहस्थ आश्रम अन्य सभी आश्रमों का मूल है।

संदर्भ

1. (i) गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/13
(ii) एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 33/5
2. ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम्।
गार्हस्थ्यं तु द्वितीयं स्याद् वानप्रस्थमतः परम्।।
ततः परं तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम्।
महाभारत–आश्वमेधिकगीता–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 35/40
3. कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 26/15
4. अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 26/16
5. एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।

विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 26/18

6. एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 44/20

7. आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 44/22

8. य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्।
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः।।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 44/23

9. बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्याहिसा ब्रह्मचर्येण लभ्या।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 44/2

10. (i) आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 44/6

(ii) पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः।
ततो दृष्टोऽस्मि साक्षाद् ब्रह्मचर्यं च ते महत्।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 189/2

11. (i) अधीत्यं वेदं तपसा ब्रह्मचारी।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 297/30

(ii) न वेदानधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/12

12. संस्कारैः संस्कृतः पूर्वं यथावच्चरितव्रतः।
जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत तत्त्ववित्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/15

13. स्वधर्मनिरतो विद्वान् सर्वेन्द्रियरतो मुनिः।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/2

14. गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन्।

हविष्यभैक्ष्यभुक् चापि स्थानासनविहारवान्।।

द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः।
धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा।।
क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा।
सर्वं काषायरक्तं वा वासो वापि द्विजस्य ह।।
मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः।।
महाभारत—आश्वमेधिकपर्व—अनुगीतापर्व—गुरुशिष्यगीता – 46/3–6

15. जटाजिनधरा दान्ताः पंकदिग्धा जितेन्द्रियाः।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक्।।
महाभारत—शान्तिपर्व—आपद्धर्मपर्व—षड्जगीता – 51/16

16. गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोष–
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः।।
महाभारत—उद्योगपर्व—सनत्सुजातीयगीता – 44/10

17. आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते।।
समौ गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते।।
महाभारत—उद्योगपर्व—सनत्सुजातीयगीता – 44/12, 13

18. आचार्येणात्मकृतं विजानन्।
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।।
यन्मन्यते तं प्रतिदुष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः।।
महाभारत—उद्योगपर्व—सनत्सुजातीयगीता – 44/14

19. नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि।
इतीव मन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः।
महाभारत—उद्योगपर्व—सनत्सुजातीयगीता – 44/15

20. यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो
युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च

वेदप्रभावेण समन्विताश्च।।
महाभारत—वनपर्व—तीर्थयात्रापर्व—अष्टावक्रगीता – 132/6

21. सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद् विधीयते।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 35/43

22. गृहाण्याश्रित्य गावश्च क्षेत्राणि च धनानि च।
दाराः पुत्राश्च भृत्याश्च भवन्तीह नरस्य वै।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/3

23. प्रायेण च गृहस्थस्य ममत्वं नाम जायते।
सङ्गागतं नरश्रेष्ठ भावै राजसतामसैः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/2

24. अप्रयत्नागताः सेव्या गृहस्थैर्विषयाः सदा।
प्रयत्नेनोपगम्यश्च स्वधर्म इति मे मतिः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/35

25. सर्वात्मनानुकुर्वीत गृहस्थः कर्मनिश्चयम्।
दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मे विचरन् नृप।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/38

26. (i) स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/16

(ii) यज्ञाञ्शक्त्या संनिगृह्येह पञ्च।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 297/30

27. देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/9

28. स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/10

29. वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/11

30. यः कश्चिदिह लोकेऽस्मिन्नागमः परिकीर्तितः।
तस्यान्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/14

31. न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः।
न च वाक्चपलश्चैव इति शिष्टस्य गोचरः।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/18

32. नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः।
नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत्।।
जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचारसमन्वितः।
वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/19, 20

33. येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकांक्षया।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/19

34. देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु।
इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/17

35. यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/39

36. चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/13

37. वनं गच्छेत् पुरुषो धर्मकामः।
श्रेयः स्थित्वा स्थापयित्वा स्ववंशम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 297/30

38. फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने।
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते।।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद् विधीयते।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 35/42, 43

39. संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान्।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत्।।
चर्मवल्कलसंवासी सायं प्रातरूपस्पृशेत्
अरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत् पुनः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/9, 10

40. अर्चयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम्।
फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्तयन्।।
प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमाश्रयेत्।
प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/11, 12

41. दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशाञ्श्मश्रु च धारयन्।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः।।
शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/15, 16

42. (i) स्वगृहादभिनिस्सृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/3

(ii) अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्।
सर्वभूतसुखो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/18

43. अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम्।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तयन्।।
आत्मना यः प्रशान्तात्मा लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/16

44. महात्मा सर्वतो दान्तः सर्वत्रैवानपाश्रितः।
अपूर्वचारकः सौम्यो अनिकेतः समाहितः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/19

45. अनुरोधविरोधाभ्यां समः स्यादचलो ध्रुवः।
सुकृतः दुष्कृतं चोभे नानुरुध्येत कर्मणा।।
नित्यतृप्तः सुसंतुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/14, 15

46. वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/17

47. न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्।।
अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कञ्चन।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/5, 6

48. (i) विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः।।

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रालाभेष्वनादृतः।
अलाभे न विहन्येत लाभश्चैनं न हर्षयेत्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/9, 10

(ii) अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने।।
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित्।
लाभेन च न दृप्येत् नालाभे विमना भवेत्।
न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/19, 20

49. न संनिकाशयेद् धर्मं विविक्ते चारजाश्चरेत्।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा।
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम्।
ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत्।।
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवश्च चरेन्महीम्।
दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत्।।
संचयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासं च वर्जयेत्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/25–27

50. अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च।
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम्।।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता –
46/29, 30

51. मृदमापस्तथान्नानि पत्रपुष्पफलानि च।
असंवृतानि गृह्णीयात् प्रवृत्तानि च कार्यवान्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/36

52. आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/39

53. इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित्।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 46/44

54. अकर्मणः फलं चैव स एव परमव्ययः।
छन्दांसि यस्य रोमाणि ह्यक्षरं च सरस्वती।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–वृत्रगीता – 280/25

चतुर्थ अध्याय
महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में वर्ण धर्म

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी। समाज के व्यक्तियों को जिन चार भागों में बाँटा गया वे चार वर्ण कहलाए। वर्ण व्यवस्था की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य था।

आचार्य यास्क ने ''वर्ण'' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृञ्'' धातु से मानी है– ''वर्णो वृणोतेः''[1] जिसका अर्थ है चुनाव करना। अन्यत्र वर्ण शब्द को ''वर्ण्'' धातु से घञ् प्रत्यय पूर्वक निष्पन्न बताते हुए उसके अर्थ किए गए हैं– रंग–रूप, सौन्दर्य, मनुष्य श्रेणी, जनजाति, कबीला, जाति, श्रेणी, वंश आदि।[2] इस वर्ण चतुष्ट्य की स्थापना ईश्वर द्वारा की गई है। ऋग्वेद का मन्त्र इस मान्यता का प्रारम्भिक सूत्र है।[3] अर्थात् परम पुरुष परमात्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। समाज की इस वर्ण व्यवस्था का समर्थन यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भी मिलता है।[4]

इसका समर्थन परवर्ती साहित्य में भी मिलता है।[5] यही भागवतपुराण में भी कहा गया है।[6] महाभाष्य में भी यही कहा गया है।[7]

उपुर्यक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि समाज को सुचारू रूप से व्यवस्थित करने के लिए ही उसे चार वर्णों में विभक्त किया गया। जो सम्मान, शासन, सम्पत्ति तथा श्रम – इन चार अधिकारों के प्रतीक हैं और इनके ज्ञानार्जन, युद्ध, वाणिज्य तथा परिचर्या – ये चार कर्त्तव्य हैं।

महाभारत में वर्णित गीताओं में भी इन चतुर्वर्णों के स्वरूप व कर्त्तव्य का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस विषय में इनमें वर्णों

की उत्पत्ति की कथा भी दी गई है। राजा जनक पराशर मुनि से पूछते हैं कि ब्रह्माजी से उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से ही सबका जन्म हुआ है, तब उनकी क्षत्रिय आदि विशेष संज्ञा कैसे हो गई।[8] तब पराशर मुनि कहते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजी जब मानव–जगत् की सृष्टि करने लगे, उस समय उनके मुख, भुजा, उरु और पैर – इन अङ्गों से मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ था।[9] जो मुख से उत्पन्न हुए, वे ब्राह्मण कहलाए। दोनों भुजाओं से उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को क्षत्रिय माना गया। राजन्! जो उरुओं से उत्पन्न हुए, वे धनवान् (वैश्य) कहे गए, जिनकी उत्पत्ति चरणों से हुई, वे सेवक या शूद्र कहलाए। इस प्रकार ब्रह्माजी के चार अङ्गों से चार वर्णों की उत्पत्ति हुई, वे इन्हीं चार वर्णों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने के कारण वर्णसंकर कहलाते हैं।[10]

इसी आधार पर लोक में चार प्रकार की जीविका का विधान किया गया है। मनुष्य इन्हीं चार प्रकार की जीविकाओं का आश्रय लेकर रहते हैं। यह जीविका दैवेच्छा से चलती है।[11] यही बात अन्यत्र भी कही गई है कि यदि ब्राह्मण के यहाँ प्रतिग्रह से मिला हुआ, क्षत्रिय के घर युद्ध से जीतकर लाया हुआ, वैश्य के पास न्यायपूर्वक कमाया हुआ और शूद्र के यहाँ सेवा से प्राप्त हुआ थोड़ा सा भी धन हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है तथा धर्म के कार्य में उसका उपयोग हो तो वह महान् फल देने वाला होता है।[12]

इनके सामान्य धर्म का विवेचन भी यहाँ किया गया है। क्रूरता का अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद, दान देना, श्राद्ध कर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नी में सन्तुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसी में दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता ये सभी वर्णों के सामान्य धर्म हैं।[13]

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। उपर्युक्त धर्मों में इन्हीं का अधिकार है। ये तीन वर्ण विपरीत कर्मों में प्रवृत्त होने पर पतित हो जाते हैं। सत्पुरुषों का आश्रय लेकर अपने–अपने कर्मों में लगे रहने से जैसे इनकी उन्नति होती है, वैसे ही विपरीत कर्मों के आचरण से पतन भी हो जाता है।[14]

ब्राह्मण इन्द्रियसंयम से, क्षत्रिय युद्ध में विजय पाने से, वैश्य न्यायपूर्वक उपार्जित धन से और शूद्र सदा सेवाकार्य में कुशलता का परिचय देने से शोभा पाता है।[15] जो राजा धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करता है, वह उस धर्माचरण के कारण ही लोक में पूजित होता है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण धर्मपूर्वक स्वाध्याय करता है, जो वैश्य धर्म के अनुसार धनोपार्जन में तत्पर रहता है तथा जो शूद्र जितेन्द्रिय भाव से रहकर सर्वदा द्विजातियों की सेवा करता है वे सभी अपने धर्माचरण के कारण लोक में सम्मानित होते हैं। इसके विपरीत आचरण करने से सब लोग अपने धर्म से गिर जाते हैं।[16] सभी वर्णों के लोग इस जीव जगत् में अपने–अपने धर्मानुसार कर्म का अनुष्ठान करके, सदा सत्य बोलकर तथा पापकर्म का परित्याग करके स्वर्गलोक को जाते हैं।[17] डरपोक क्षत्रिय, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके खाने वाला ब्राह्मण, अकर्मण्य वैश्य, आलसी शूद्र ये सब शोक के योग्य हैं।[18]

इस प्रकार महाभारत में वर्णित गीताओं में चतुर्वर्णों की उत्पत्ति व उनके सामान्य धर्म इत्यादि का विवेचन किया गया है। इनके अनुसार चारों वर्णों का स्वरूप व परिचय इस प्रकार है–

(क) ब्राह्मण

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से मानी गई है। मुख शब्द का तात्पर्य भोजन करने वाला अवयव नहीं है। मुख शब्द का तात्पर्य है–मस्तिष्कयुक्त उत्तमाङ्ग। जिस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क का उसकी क्रियाओं का संचालन करता है और उसमें उदात्त विचारों का समावेश करके उसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार समाज का सुष्ठु संचालन करते हुए उसे सन्मार्ग की ओर ले जाने वाले ब्राह्मण हैं, जो अपने उदात्त विचारों, दीर्घकालीन अनुभव एवं ज्ञान से समाज का नेतृत्व करते थे। मनु ने ज्ञानवान् होने के कारण ही ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना है–

विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठ्यम्।

मनुस्मृति – 2/155

महाभारत में ब्राह्मण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च।।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
योऽध्यापयेदधीयीत यजेद् वा याजयीय वा।।
दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुङ्गवः।।
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

महाभारत–वनपर्व – 206/33–35 का पूर्वार्ध, 36 का उत्तरार्ध, 37

अर्थात् जो क्रोध और मोह को त्याग दे, सत्य बोले, अपने गुरु को सन्तुष्ट रखे, हिंसा का शिकार होकर भी हिंसा न करे, जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्यायतत्पर तथा पवित्र हो, काम–क्रोध को वश में कर सके, अध्ययन करे, यज्ञ करे, यज्ञ करवाये, यथाशक्ति दान दे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, उदार बने, वेदाध्ययन करे, और निरन्तर स्वाध्याय करे – वही व्यक्ति 'ब्राह्मण' है।

महाभारत में वर्णित गीताओं में भी ब्राह्मणों के महत्त्व, स्वरूप, कर्त्तव्य व गुणों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। ब्राह्मणत्व का सनातन हेतु दो प्रकार का कहा गया है– तपस्या और पुण्य कर्म का अनुष्ठान।[19] ब्राह्मणत्व का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि शुद्ध आचार–विचार से रहना, आलस्य से रहित होना, सन्ध्योपासना के परायण रहना, शुद्ध अन्न खाना, न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, सत्य व धर्म का पालन करना ब्राह्मणत्व की पहचान है।[20] शम, दम, क्षमा, तीर्थ सेवन तथा दान में तत्पर रहना तथा पवित्र देश में निवास करना और तेजस्वी पुरुषों के देश में निवास करना उनकी पहचान है।[21]

ब्राह्मणों को सदा योग में लगे रहने वाला, क्रोध और सन्ताप से दूर रहने वाला, नियमों का पालन करने वाला, धर्मसेवी, धर्म मर्यादा का प्रवर्त्तक और विद्वान् कहा गया है।[22] अन्यत्र कहा गया है कि जो

कर्त्तव्यपालन में थकता नहीं है, दान नहीं लेता, सत्पुरुषों में सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टता का विज्ञापन नहीं करता वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है।[23] परमात्मा के तत्त्व को जानना, वेदों की यथार्थ व्याख्या करना, अपने व दूसरों के सन्देहों को मिटाने की क्षमता रखना भी ब्राह्मणत्व की कसौटी कही गई है।[24]

ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का निर्धारण भी अनेकत्र किया गया है। ब्राह्मण को अध्ययन–अध्यापन, यजन–याजन और दान तथा प्रतिग्रह – इन छह वृत्तियों का आश्रय लेना चाहिए। इनमें से तीन कर्म याजन (यज्ञ करना), अध्यापन और श्रेष्ठ पुरुषों से दान लेना – ये ब्राह्मण की जीविका के साधन हैं। शेष तीन कर्म – दान, अध्ययन और यज्ञानुष्ठान करना – ये धर्मोपार्जन के लिए हैं।[25] यद्यपि श्रेष्ठ पुरुष को दिया हुआ दान और श्रेष्ठ पुरुष से प्राप्त हुआ प्रतिग्रह इन दोनों का महत्त्व बराबर है तो भी इन दोनों में से ब्राह्मण के लिए प्रतिग्रह स्वीकार करने की अपेक्षा दान देना अधिक पुण्यमय माना गया है।[26] ब्राह्मण के लिए अपने प्रभाव का प्रदर्शन करके जीविका चलाना निकृष्ट कहा गया है।[27] ब्राह्मण को अपनी साधना गुप्त रखनी चाहिए।[28]

ब्राह्मणों के लिए 12 व्रतों का निर्धारण किया गया है– धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, तप, मत्सरता का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान – ये ब्राह्मण के 12 व्रत हैं।[29]

इन 12 व्रतों पर अपना प्रभुत्व रखने वाला ब्राह्मण सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को अपने अधीन कर सकता है।[30] ब्राह्मणों से अपेक्षा की गई है कि वे कुटिलता, शठता एवं क्रोध को त्यागकर हव्य–कव्य का प्रयोग करते हुए अन्न–धन का यज्ञ (लोकहित के कार्य) में सदुपयोग करें।[31]

ब्राह्मणों के लिए सदाचार का पालन अत्यन्त आवश्यक कहा गया है। जिसका सदाचार एवं सत्कर्म कभी लुप्त नहीं होता वह ब्राह्मण अग्निहोत्री न हो तो भी अच्छा है, किन्तु सदाचार का त्याग

करके केवल अग्निहोत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है।[32] ब्राह्मणों

में भी अङ्गों सहित वेदों का स्वाध्याय करने वाला तथा वक्ता ही ज्येष्ठ है। अवस्था, धन व भाई बन्धु–ज्येष्ठत्व के हेतु नहीं हैं।[33] वेदों का अध्ययन करना पुण्य का कार्य भी है।[34]

ब्राह्मण में अत्यधिक गुण होने व उनके श्रेष्ठ आचरण के कारण उन्हें बहुत अधिक महत्व दिया जाता था। ब्राह्मणों को धर्म का मूल कहा गया है व उनकी प्रत्येक कामना पूर्ण करने का निर्देश दिया गया है। उनकी इच्छा पूर्ण न करने से राजाओं के ऊपर भय आता है।[35]

जब तक ब्राह्मण से सामना न हो तब तक अन्धे, बहरे, स्त्री, बोझा ढोने वाले तथा राजा के लिए भी मार्ग छोड़ देना चाहिए परन्तु यदि ब्राह्मण सामने मिल जाए तो सबसे पहले उसी को मार्ग देना चाहिए। देवराज इन्द्र भी ब्राह्मण के आगे झुकने वाले कहे गए हैं।[37]

ब्राह्मणों का इतना महत्त्व होने पर भी धर्म पालन में बहिर्मुखी ब्राह्मण को महत्त्व देने का निषेध किया गया है। जो धर्म का पालन करने से अन्तर्मुखी हो गया है उसे ही श्रेष्ठ समझना चाहिए।[38] उनके स्वरूप की उत्कृष्टता बताते हुए कहा गया है कि वेद शास्त्रों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों का देवत्व है। उत्तम व्रतों का पालन करना ही उनमें साधुता बताई जाती है। दूसरों की निन्दा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्यु को प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता है।[39] अपने नियमों में प्रमाद न करने वाला धर्मज्ञ गुणी ब्राह्मण स्वर्गलोक को भी जीत लेता है।[40]

(ख) क्षत्रिय

क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति ब्रह्म (पुरुष) की भुजाओं से मानी गई है और उसे समाज की भुजा भी कहा गया है। जैसे भुजाएँ शरीर की रक्षा करने में समर्थ होती हैं, वैसे ही क्षत्रिय भी समाज की रक्षा–सुरक्षा करते हैं। इसीलिए प्राचीनकाल में क्षत्रिय ही 'राजा' का पद प्राप्त करते थे और वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करना उनका परम कर्त्तव्य था। भीष्मपितामह ने क्षत्रिय की परिभाषा इस प्रकार दी है–

(क) कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।

महाभारत–शान्तिपर्व – 188/11

(ख) क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते।।
महाभारत–शान्तिपर्व – 189/5

अर्थात् कामभोग को पसन्द करने वाले, तीक्ष्णस्वभाव वाले, अत्यधिक साहसी, प्रजारक्षक, वेदाध्ययन करने वाले तथा दान देने वाले व्यक्ति 'क्षत्रिय' कहलाते हैं। क्षत्रियों का यह स्वरूप अथवा उनका ऐसा स्वभाव उनमें रजोगुण के आधिक्य का द्योतक है।

महाभारत में उपलब्ध गीताओं में क्षत्रिय धर्म पर पर्याप्त विचार किया गया है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का श्रेष्ठ धर्म कहा गया है।[41] बल व पराक्रम में क्षत्रिय का अनुराग होता है।[42] जितेन्द्रिय क्षत्रिय से बन्धु–बान्धवों से प्रेम रखते हुए प्रजा, भृत्य और पुत्रों का स्वधर्म के अनुसार पालन करने की अपेक्षा की गई है।[43]

क्षत्रिय को प्रमाद नहीं करना चाहिए। उससे बड़े–बड़े दोष प्रकट होते हैं। वर्ण–संकरों को जन्म देने वाले पापकर्मों की वृद्धि होती है।[44] जिस क्षत्रिय में चरित्र दोष को दूर करने का गुण हो, वही प्रजावर्ग का पिता व वही प्रजा का अधिपति हो सकता है।[45]

राजा को उपदेश दिया गया है कि वह बढ़े हुए शत्रुओं को जीते। प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करे। नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा अग्निदेव को तृप्त करे तथा वैराग्य होने पर मध्यम अवस्था में अथवा अन्तिम अवस्था में वन में जाकर रहे।[46] धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाला राजा धर्माचरण के कारण ही लोक में पूजित होता है।[47]

क्षत्रिय के लिए युद्ध करना आवश्यक कहा गया है। क्षत्रिय का पुत्र यदि समराङ्गण में घायल होकर बाणों की चिता पर दग्ध होता है तो वह देव दुर्लभ लोक में जाता है और वहाँ आनन्दपूर्वक स्वर्गीय सुख भोगता है।[48] युद्ध में जो मारा जाता है वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है और जो शत्रु को मारता है उसे यश की प्राप्ति होती है।[49] युद्ध में मारे गए शूरवीर जितनी सुगमता से स्वर्गलोक जाते हैं, उतनी सुविधा से मनुष्य प्रचुर दक्षिणा वाले यज्ञ, तपस्या और विद्या द्वारा भी नहीं जा

सकते।[50] क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर कोई अन्य स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग नहीं है।[51]

इसके अतिरिक्त यहाँ एक विशेष बात कही गई है कि ब्राह्मण क्षत्रिय से और क्षत्रिय ब्राह्मण से संयुक्त हो जाएँ तो वे दोनों मिलकर शत्रुओं को उसी प्रकार दग्ध कर डालते हैं जैसे अग्नि और वायु परस्पर सहयोगी होकर कितने ही वनों को भस्म कर डालते हैं।[52]

(ग) वैश्य

जिस प्रकार शरीर का भार जंघाओं पर रहता है, उसी प्रकार समाज के भरण–पोषण का भार भी वैश्यों को वहन करना पड़ता था। समाज के आर्थिक विकास का उत्तरदायित्व इन्हीं पर था। अर्थात् तत्कालीन आर्थिक नीति निर्धारण का कार्य वैश्यों पर ही निर्भर था। वैश्यों के स्वरूप एवं स्वभाव को विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार कहा गया है–

(अ) पितृकार्यपरश्चैव नरसिंहार्च्चनापरः।

लघुहारीतस्मृति – 2/10

(क) देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम्।।

भागवतपुराण – 11/7/23

(ख) वाणिज्य–पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।।

महाभारत–शान्तिपर्व – 189/6

(ग) कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

श्रीमद्भगवद्गीता – 18/44 का पूर्वार्ध।

अर्थात् देवता, गुरु तथा भगवान् के प्रति भक्ति, धर्म, अर्थ, काम–पुरुषार्थों का पोषण, आस्तिकता, उद्योगशीलता तथा लोकव्यवहार निपुणता से युक्त व्यापार, पशुसंरक्षण, कृषि, धनसंग्रह आदि कार्यों को करने के स्वभाव वाला, पवित्र आचरण करने वाला और वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति वैश्य है। यही बात इन गीताओं में कही गई है।

खेती व पशुपालन और व्यापार वैश्य की आजीविका कही गई है।[53] वैश्यों द्वारा समुद्री व्यापार किए जाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[54]

(घ) शूद्र

शूद्रों की उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से बताई गई है। शरीर में जो स्थिति पैरों की है, वही समाज में शूद्रों की है। पैर व्यक्ति को उसके गन्तव्य तक ले जाते हैं, उसे गतिशील रखते हैं, शूद्र भी समाज के अन्य वर्गों को उनके गन्तव्य तक पहुँचने में अपेक्षित सहायता करते हैं। शूद्रों में वे लोग आते हैं, जो अन्य तीन वर्णों वाले कार्य नहीं कर पाते, उन्हें सेवा का भार लेना पड़ता है। शूद्रों के स्वभाव तथा स्वरूप के विषय में कहा गया है–

(क) शूद्रस्य संनतिः शोचं सेवा स्वामिन्यमायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्त्येयं सत्यं गो–विप्ररक्षणम्।।
भागवतपुराण – 7/11/24

(ख) शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्चते।
भैक्ष्यहोम व्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः।।
महाभारत–वनपर्व – 150/36

(ग) शुचिरुत्कृष्टशुश्रुषुर्मृदुवागनहंकृतः।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते।।
मनुस्मृति – 1/335

(घ) वर्णत्रयस्य शुश्रूषां कुर्याच्छूद्रः प्रयत्नतः।
दासवद् ब्राह्मणानाञ्च विशेषेण समाचरेत्।।
लघुहारीतस्मृति – 2/11

अर्थात् विनम्रता, पवित्रता, स्वामी की निष्कपट सेवा, मन्त्ररहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्यनिष्ठा, गोब्राह्मण की रक्षा करना, अहप्रार रहित होना शूद्र वर्ण का स्वभाव एवं स्वरूप है। भिक्षा, यज्ञ, व्रतादि शूद्र के लिए निषिद्ध हैं।

पराशर गीता में द्विजातियों की सेवा करना शूद्र का धर्म कहा गया है।[55] शूद्र के लिए तीनों वर्णों की सेवा से जीवन निर्वाह करना ही सबसे उत्तम है। यदि शूद्र सेवावृत्ति का प्रेमपर्वूक पालन करें तो वह उन्हें धर्मिष्ठ बनाती है। यदि शूद्र के पास कोई पुश्तैनी जीविका का साधन नहीं हो तो वह तीनों वर्णों की सेवा को ही जीविका के उपयोग में लाए।[56]

शूद्र तीनों वर्णों का नित्य सेवक कहा गया है।[57] शूद्रों को यज्ञ भूमि तथा त्रैवर्णिकों के घरों को झाड़–बुहार कर साफ रखना चाहिए।[58] परन्तु यदि शूद्र सेवावृत्ति से जीविका न चला सके, तब उसके लिए भी व्यापार, पशुपालन तथा शिल्पकला आदि से जीवन–निर्वाह करने की आज्ञा है।[59]

इन गीताओं में शूद्र के प्रति उदार दृष्टि देखने को मिलती है। यद्यपि शूद्र उपनयन आदि संस्कार तथा वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी नहीं है परन्तु द्विजातियों के सामान्य धर्मों का उसके लिए निषेध नहीं किया गया है।[60]

शूद्रों को अपना उद्धार करने के लिए यह छूट दी गई है कि वे चाहें तो सदाचार का पालन करते हुए आत्मा को उन्नत बनाने वाली समस्त क्रियाओं का अनुष्ठान करें, परन्तु वैदिक मन्त्र का उच्चारण न करें।[61]

इन गीताओं में शूद्रों को बहुत सम्मानजनक स्थान प्रदान किया गया है। पराशर कहते हैं कि वेद शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न द्विज शूद्र को प्रजापति के तुल्य बताते हैं (क्योंकि वह परिचर्या द्वारा समस्त प्रजा का पालन करता है) परन्तु नरेन्द्र! मैं तो उसे समस्त जगत् के प्रधान रक्षक भगवान् विष्णु के रूप में देखता हूँ क्योंकि पालन कर्म विष्णु का ही है और वह अपने उस कर्म द्वारा पालनकर्ता श्री हरि की आराधना करके उन्हीं को प्राप्त होता है।[62] इस प्रकार गीताओं में वर्णधर्म का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

1. गीताओं में सभी वर्णों के सामान्य व विशेष धर्मों का सविस्तार वर्णन किया गया है। विशेष ध्यातव्य यह है कि शूद्र के प्रति यहाँ उदार दृष्टि देखने को मिलती है। शूद्र उपनयन आदि संस्कार तथा वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी नहीं है परन्तु द्विजातियों के सामान्य धर्मों का उसके लिए निषेध नहीं किया गया है। पराशर गीता में शूद्र को प्रजापति व साक्षात् विष्णु के समकक्ष माना गया है।

संदर्भ

1. निरुक्त – 3/2
2. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. सं. 109
3. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत।
   उरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।।
   ऋग्वेद – 10/90/12
4. (i) रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि।
   रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचा रूचम्।।
   यजुर्वेद – 18/48

   (ii) प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
   प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।
   अथर्ववेद – 19/62/1
5. ब्राह्मणयो मुखतः सृष्टो ब्राह्मण राजसत्तम्।
   पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः।
   शतपथ ब्राह्मण – 4/5
6. मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुपास्याश्रमैः सह।
   चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।।
   भागवतपुराण – 11/5/2
7. सर्व एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्त्तन्ते ब्राह्मणः।
   क्षत्रियो वैश्याः शूद्र इति।
   महाभाष्य – 5/1/115
8. यदेतज्जायतेऽपत्यं स एवायमिति श्रुतिः।
   कथं ब्राह्मणतो जातो विशेषग्रहणं गतः।।
   महाभारत–शान्त्पिर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/2
9. वक्त्राद् भुजाभ्यामूरुभ्यां पद्भ्यां चैवाथ जज्ञिरे।
   सृजतः प्रजापतेर्लोकानिति धर्मविदो विदुः।।
   महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/5
10. मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
    उरुजा धनिनो राजन् पादजाः परिचारकाः।।
    चतुर्णामेव वर्णानामागमः पुरुषर्षभ।
    अतोऽन्येत्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः।।
    महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/6, 7
11. चतुर्विधा हि लोकेस्मिन् यात्रा तात विधीयते।
    मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते सा च कामात् प्रवर्तते।।
    महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 290/9

12. प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये युधि निर्जिताः।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः।
स्वल्पाप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 294/1

13. आनृंशस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च।।
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/23, 24

14. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर।।
विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ते नृपते त्रयः।
उन्नमन्ति यथासन्तमाश्रित्येह स्वकर्मसु।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/25, 26

15. दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/21

16. तस्माद् यो रक्षति नृपः स धर्मेणेति पूज्यते।
अधीते चापि यो विप्रो वैश्यो यश्चार्जने रतः।।
यश्च शुश्रषते शूद्रः सततं नियतेन्द्रियः।
अतोऽन्यथा मनुष्येन्द्र स्वधर्मात् परिहीयते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/14, 15

17. सर्वे वर्णा धर्मकार्याणि सम्यक्
कृत्वा राजन् सत्यवाक्यानि चोक्त्वा।
त्यक्त्वाधर्मं दारुणं जीवलोके।
यान्ति स्वर्गं नात्र कार्यो विचारः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/39

18. भीरु राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो
वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्।
यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 290/25

19. द्विविधा खलु विज्ञेया ब्रह्मयोनिः सनातनी।

तपः कर्म च यत्पुण्यमित्येष विदुषां नयः।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 42/38

20. शुद्धाचारा अनलसाः संध्योपासन तत्पराः।
शुद्धान्नाः शुद्धसुधना ब्रह्मचर्यव्रतान्विताः।।
सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः।।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः।।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 184/18

21. शान्ता दान्ताः क्षमशीलास्तीर्थदानपरायणाः।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः।।
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः।।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 184/21

22. तस्मात् सत्यमया विप्रानित्यं योगपरायणाः।
अतीतक्रोधसंतापा नियता धर्मसेविनः।
अन्योन्यनियतान् वैद्यान् धर्मसेतुप्रवर्तकान्।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि शाश्वताल्लोकभावनान्।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 35/35, 36

23. अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः।।

महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 42/38

24. अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान्।।

महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 43/56

25. (i) अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजनयाजने।
दानं प्रतिग्रहं वापि षड्गुणां वृत्तिमाचरेत्।।
त्रीणि कर्माणि जानीत ब्राह्मणानां तु जीविका।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः।।
अथ शेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/21–23

(ii) षट्कर्मनिरता विप्राः।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 191/13

(iii) प्रतिग्रहो याजनं च तथैवाध्यापनं नृप।
विशेषधर्मा विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/20

26. विशिष्टस्य विशिष्टाच्च तुल्यौ दानप्रतिग्रहौ।
तयोः पुण्यतरं दानं तद् द्विजस्य प्रयच्छतः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/3

27. यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात्।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 42/33

28. नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 42/34

29. (i) धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 43/20

(ii) धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 45/5

30. यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो य–
स्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्यः।।
महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 43/21

31. रक्षितव्यं तु राजन्यैरुपयोज्यं द्विजातिभिः।
अजिह्मरशठक्रोधैर्हव्यकव्य प्रयोक्तृभिः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/11

32. स चाप्यग्न्याहितो विप्र क्रिया यस्य न हीयते।
श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/21

33. हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्।।
महाभारत–वनपर्व–तीर्थयात्रापर्व–अष्टावक्रगीता – 133/12

34. धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात् तान् पूजयेत् सदा।
ब्राह्मणानां च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी।।
तेषां ह्यकामकरणाद् राज्ञः संजायते भयम्।
मित्राणि न च वर्धन्ते तथामित्री भवन्त्यपि।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/22, 23

35. जातस्याध्ययनं पुण्यमिति वृद्धानुशासनम्।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 142/39

36. अन्धस्य पन्थ बधिरस्य पन्थाः
स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पन्थाः।
राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य
समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः।।

महाभारत–वनपर्व–तीर्थयात्रापर्व–अष्टावक्रगीता – 133/1

37. निन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम्।।

महाभारत–वनपर्व–तीर्थयात्रापर्व–अष्टावक्रगीता – 133/2

38. नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम्।।

महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातीयगीता – 42/29

39. स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/44

40. तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित्।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः।।
सर्वमेतद् यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयञ्शुचिः।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/24, 25

41. विशेषधर्म विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/20

42. क्षत्रिया विक्रमेरताः।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 191/13

43. स त्वमेवंविधो दान्तः क्षत्रियः प्रियबान्धवः।
प्रजा भृत्यांश्च पुत्रांश्च स्वधर्मेणानुपालय।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 294/26

44. क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान्।
अधर्माः सम्प्रवर्धन्ते प्रजासंकरकारकाः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/36

45. तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम्।
शीलदोषान् विनिर्हर्तुं स पिता स प्रजापतिः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/5

46. राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम्।
अग्निश्चेयो बहुभिश्चापि यज्ञै–
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 291/22

47. तस्माद् यो रक्षति नृपः स धर्मेणेति पूज्यते।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/14

48. रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे
नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते।
प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्
निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 297/3

49. हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः।
उभयं नो बहुगुणं नास्ति निष्फलतारणे।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 2/14

50. न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया।
स्वर्गं यान्ति तथा मर्त्या यथा शूरा रणे हताः।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 2/16

51. एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम्।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते।।
महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 2/18

52. ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह।
संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ।।
राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च वृहस्पतिः।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 185/25, 26

53 (i) तमर्चयित्वा वैश्यस्तु कुर्यादत्यर्थमृद्धिमत्।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/11

(ii) कृषिश्च पाशुपाल्यं च वाणिज्मं च विशामपि।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/21

(iii) व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 191/13

54. वणिग् यथा समुद्राद् वै यथार्थं लभते धनम्।

तथा मर्त्यार्णवे जन्तोः कर्मविज्ञानतो गतिः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 298/28

55. द्विजानां परिचर्या च शूद्रकर्म नराधिप।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/21

56. वृत्तिः सकाशाद् वर्णेभ्यस्त्रिभ्यो हीनस्य शोभना।
प्रीत्योपनीता निर्दिष्टा धर्मिष्ठान् कुरुते सदा।।
वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/1, 2

57. (i) नित्यं त्रयाणां वर्णानां शुश्रूषुः शूद्र उच्यते।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 294/2

(ii) शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च।।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 191/13

58. शूद्रैर्निमार्जनं कार्यमेवं धर्मो न नश्यति।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/12

59. वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 294/4

60. न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो
न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा।
श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते
न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/27

61. सतां वृत्तिमधिष्ठाय निहीना उद्दिधीर्षवः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीः क्रियाः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/29

62. वैदेह कं शूद्रमुदाहरन्ति
द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं
विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/28

पंचम अध्याय
महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में राजधर्म

प्रत्येक राष्ट्र को उन्नत तथा सुव्यवस्थित करने के लिए उपयुक्त शासन प्रणाली की आवश्यकता होती है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में उपयुक्त शासन प्रणाली से राज्य–संचालन के निर्देश दिए गए हैं। राज्य संचालन के ढंग को ही राजनीति या राजशास्त्र कहते हैं। राजनीतिशास्त्र की शिक्षा पाकर ही राजा राज्य की व्यवस्था करने में, आर्थिक विकास करने में, प्रजाजनों को नियन्त्रित करने में, धर्म–अर्थ–काम त्रिवर्ग से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त करता है।

राजधर्म को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही माना जाता है, क्योंकि धर्मशास्त्र सामान्य धर्माचरण के अतिरिक्त राजा के आचरण को भी धर्माचरण मानते हैं। राजधर्म के समुचित उपयोग से ही राजा प्रजा एवं राज्य को धारण करता है। महाभारत में वर्णित गीताओं में राजधर्म विषयक पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है जिसे निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

(क) राजा धर्म का स्वरूप

राजा को साक्षात् धर्म का स्वरूप कहा गया है। जिसमें धर्म विराज रहा हो, वही राजा है और जिसमें धर्म (वृष) का लय हो गया हो, उसे देवता लोग वृषल मानते हैं। वृष भगवान् धर्म का नाम है, जो धर्म के विषय में अलम् कह देता है, उसे देवता वृषल समझते हैं।[1]

जो सद्धर्म के पालन पूर्वक प्रजा का शासन करता है, वही राजा है।[2] अन्यत्र कहा गया है कि जैसे देवलोक में सूर्य अपने तेज से

सम्पूर्ण अन्धकार का नाश करता है। उसी प्रकार राजा इस पृथ्वी पर रहकर अधर्मों को सर्वथा हटा देता है।[3]

राजा धर्म का पालन और प्रचार करने के लिए ही होता है, विषय सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं। सम्पूर्ण प्राणी धर्म के आधार पर स्थित हैं और धर्म राजा के ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा अच्छी तरह धर्म का पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकाल तक इस पृथ्वी का स्वामी बना रहता है। यदि राजा धर्माचरण करता है तो देवता बन जाता है अन्यथा वह नरक में गिरता है।[4]

जो राजा धर्म को अर्थसिद्धि की अपेक्षा बड़ा मानकर, धर्म को बढ़ाने में अपने मन और बुद्धि का उपयोग करता है, वह धर्म के कारण शोभा पाता है। इसके विपरीत जो राजा अधर्म पर दृष्टि रखकर बलपूर्वक उसमें प्रवृत्त होता है, उसे धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थ शीघ्र छोड़कर चल देते हैं।[5]

(ख) राजा की आवश्यकता

राजा की आवश्यकता के विषय में गीताओं में कहा गया है कि विधाता ने दुर्बल प्राणियों की रक्षा के लिए ही बलसम्पन्न राजा की सृष्टि की है। निर्बल प्राणियों का समुदाय राजा के बल पर ही टिका हुआ है।[6] राजा की प्रधानता के कारण उसे प्रजापति कहा गया है।[7] यदि अपमानित, हताहत और गाली–गलौज से तिरस्कृत होने वाला दुर्बल मनुष्य राजा को अपने रक्षक के रूप में नहीं उपलब्ध कर पाता तो वहाँ दैव का दिया हुआ दण्ड राजा को मार डालता है।[8]

राजा के महत्त्व व आवश्यकता के कारण उसे प्रजापति, विराट्, सम्राट, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। उसे पुरायोनि (प्रथम कारण), युधाजित् (संग्राम विजयी), अभिया (रक्षा के लिए सर्वत्र गमन करने वाला), मुदित (प्रसन्न), भव (ईश्वर), स्वर्णेता (स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला), सहजित् (तत्काल विजय करने वाला) तथा बभ्रु (विष्णु) – आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। राजा सत्य का कारण व सत्यधर्म में प्रवृत्ति कराने वाला है। अधर्म से

डरे हुए ऋषियों ने अपना ब्रह्मबल भी क्षत्रियों में स्थापित कर दिया था।[9]

(ग) राजा के गुण

राज्य का सुचारु संचालन करने के लिए राजा में अनेक गुणों की अपेक्षा की गई है। राजा मिथ्या भाषण करना छोड़ दे, बिना याचना या प्रार्थना किए ही दूसरों का प्रिय करे। किसी भी कामना, क्रोध या द्वेष से भी धर्म का त्याग न करे।[10] विद्वान् राजा छल–कपट छोड़ कर बर्ताव करे। सत्य को कभी न छोड़े। इन्द्रियसंयम, धर्माचरण, सुशीलता, क्षत्रिय धर्म तथा प्रजा के हित का कभी परित्याग न करे। किसी के प्रश्न का उत्तर देने में संकोच न करे, बिना विचारे कुछ न बोले, शीघ्रता न करे, किसी की निन्दा न करे। ऐसे व्यवहार से शत्रु भी वश में हो जाता है।[11] जो पुरुष दानशील हो, सबके लिए सम्यक् विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओं का वितरण करने वाला, मृदुल स्वभाव, शुद्ध आचार–विचार वाला तथा मनुष्यों का त्याग न करने वाला हो, वही राजा बनने योग्य हो।[12]

राजा क्षमा, विवेक, धृति और बुद्धि की शिक्षा ग्रहण करने वाला हो। वह समस्त प्राणियों की और भलाई–बुराई को भी जानने वाला हो। वह समस्त प्राणियों को अपने अनुकूल बनाए रखे, वह दान दे और मीठे वचन बोलने वाला हो। वह प्रजा की रक्षा करने वाला हो।[13]

राजा बुद्धिमान व शूरवीर होने के साथ–साथ दण्ड देने की नीति को भी जानने वाला हो।[14] राजा का ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए उसमें कुछ गुण होना आवश्यक है यथा – समस्त प्राणियों को अपने पक्ष में मिलाए रखना, दान देना, मीठे वचन बोलना, प्रमाद का त्याग करना तथा बाहर और भीतर से पवित्रता रखना।[15]

कल्याणकारी गुणों को ग्रहण करने वाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान राजा उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है जैसे नदियों के प्रवाह से समुद्र।[16]

(घ) राजा के कर्त्तव्य अथवा धर्म

गीताओं में राजा के कर्त्तव्यों का व राजधर्म का बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है। राजा के लिए धर्म का आचरण करना व

अर्थ सम्बन्धी कार्यों को देखना परम कर्त्तव्य कहा गया है।[17] चिरकाल तक राजसिंहासन पर बने रहने के लिए राजा को अधर्म व दर्प का सेवन नहीं करना चाहिए।[18] राजा को अर्थसिद्धि की चेष्टा करनी चाहिए।[19]

राजा को एक बार कैद किए गए मन्त्री से, पराई स्त्रियों से, दुर्गम पर्वत से, हाथी, घोड़े और सर्पों से बचकर रहना चाहिए। कृपणता, अभिमान, दम्भ और क्रोध का भी वह परित्याग कर दे।[20]

राजा को शत्रुओं को जीतना चाहिए। वह प्रजा का न्याय पूर्वक पालन करे। नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा अग्निदेव को तृप्त करे तथा अन्त में वानप्रस्थ आश्रम के अनुकूल आचरण करे।[21] ब्राह्मणों की रक्षा करना भी राजा का कर्त्तव्य है क्योंकि राजा धर्मपालन के इच्छुक होते हैं और ब्राह्मण धर्म के सेतु होते हैं।[22] राजा को प्रमाद नहीं करना चाहिए अन्यथा चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम सभी मोह में पड़ जाते हैं।[23] राजधर्म का विवेचन उतथ्य गीता में विस्तार से किया गया है।

सब को यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उपभोग करना, मन्त्रियों का अनादर नहीं करना व शत्रुओं को मारना राजधर्म कहलाता है। मन, वाणी व शरीर के द्वारा सबकी रक्षा करना, डाकू व लुटेरों को मार भगाना, पुत्र के व किसी अन्य प्रिय से प्रिय व्यक्ति के भी क्रिया व वाणी द्वारा किए गए अपराध को समान करके यथायोग्य दण्ड देना राजधर्म कहलाता है।[24] व्यापारियों की पुत्र के समान रक्षा करना, धर्म की मर्यादा को भङ्ग न करना राजधर्म है। यज्ञों का श्रद्धापूर्वक आयोजन करना, दीन, अनाथ और वृद्धों के आँसू पोंछना राजधर्म है।[25]

राजा को यमराज के समान सब प्राणियों पर बिना किसी भेदभाव के समान रूप से शासन करना चाहिए।[26] राजा दुष्टों को दण्ड देने के कारण यम तथा धार्मिकों पर अनुग्रह करने के कारण परमेश्वर के समान है।[27]

(ङ) राज्य के विविध तत्त्व

राज्य के विविध तत्त्वों का उल्लेख भी इन गीताओं में किया गया है। यदि राजा का देश समृद्धिशाली, धन–धान्य से सम्पन्न, राजा

को प्रिय मानने वाले मनुष्यों से परिपूर्ण और हृष्ट–पुष्ट मन्त्रियों से सुशोभित है तो ही उसकी जड़ मजबूत हो सकती है।[28] शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सेना भी सन्तुष्ट होनी चाहिए।[29]

राजा को मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभ, दुराचारी, शठ, कपटी, हिंसक, दुर्बुद्धि, शास्त्रों के ज्ञान से शून्य, शराबी, जुआरी, स्त्रीलम्पट व मृगयासक्त पुरुष को महत्वपूर्ण कार्यों में नियुक्त नहीं करना चाहिए।[30]

रक्षा के स्थान दुर्ग आदि, धर्म के अनुसार राज्य का शासन, मन्त्र–चिन्तन तथा यथासमय सबको सुख प्रदान करना – इन पाँचों के द्वारा राज्य की वृद्धि होती है।[31]

राजा को नीतियों के प्रयोग के विषय में भी मार्गदर्शन दिया गया है कि शत्रुपक्ष की सेना के प्रबल होने पर पहले सामनीति का प्रयोग करना उचित है। उसके विफल होने पर धन या उपहार देने की नीति को अपनाना चाहिए। दाननीति में भी भेदनीति का समावेश हो। यदि साम, दान और भेद तीनों का प्रयोग निष्फल हो जाए तो फिर दण्डनीति का ही प्रयोग करना चाहिए।[32]

इस प्रकार गीताओं में राजधर्म का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

1. प्रसंगवश राजधर्म का भी विवेचन गीताओं में प्राप्त होता है। राजा को साक्षात् धर्म का स्वरूप कहा गया है। राजा धर्म का पालन व प्रचार करने के लिए होता है, विषय सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं। राजा के कर्त्तव्य व गुणों इत्यादि का यह वर्णन वर्तमान नेताओं के लिए अनुकरणीय सिद्ध हो सकता है।
2. धर्म विषयक चिन्तन पराशर गीता में सर्वाधिक प्राप्त होता है। गुरुशिष्य गीता में भी यह पर्याप्त मात्रा में किया गया है। सनत्सुजात गीता, वामदेव गीता, उतथ्य गीता, हंस गीता व मार्कण्डेय गीता में भी यह विवेचन अधिकता से उपलब्ध होता है। अन्य गीताओं में इस चिन्तन की नगण्य मात्रा उपलब्ध होती है।

संदर्भ

1. यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्य देवा वृषलं विदुः।।
वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशसनपर्व–उतथ्यगीता –90/15, 16

2. तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः समृतः।
स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत् पुरुषर्षभ।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/20

3. (i) धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातारिति जानी हि राजालोकस्य रक्षिता।।
राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेद्धर्मं चरति नरकायैव गच्छति।।
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/3–5
(ii) धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम्।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 92/6

4. आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम्।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 185/30

5. अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतेः।
वृद्धयां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते।।
अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता –92/7, 8

6. दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबलं तु महद्भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 92/12

7. ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात्।
उत्तरः सिद्धयते पक्षो येन राजेति भाषितम्।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 185/31

8. विमानितो हतः क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति।

अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/18

9. प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति।।
पुरायोनिर्युधाजिज्ज अभिया मुदितो भवः।
स्वर्णेता सहजिद् बभ्रुरिति राजाभिधीयते।।
सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्तकः।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन्।।
महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीतापर्व – 185/27–29

10. मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 93/9

11. अमाययैव वर्तेत न च सत्यं त्यजेद् बुधः।
दमं धर्मं च शीलं च क्षत्रधर्मं प्रजाहितम्।।
नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं सृजेत्।
न त्वरेत न चासूयेत् तथा संगृह्यते परः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 93/10

12. दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम्।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 93/27

13. अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।
भूतानां चैव जिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा।।
संग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरं वचः।
पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता –91/46, 47

14. तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम्।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/49

15. त्यजन्ति दारान् पुत्रांश्च मनुष्याः परिपूजिताः।
संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक्।।
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत्।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता –91/53, 54

16. अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 92/11

17. गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थानवेक्षिता।
धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 92/19

18. स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत् स्थातुमिच्छति।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/29

19. अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 92/10

20. निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्हस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात्।।
एतेभ्यो नित्ययत्तः स्यान्नक्तं चर्यां च वर्जयेत्।
अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता –91/31, 32

21. राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम्।
अग्निश्चेयो बहुभिश्चापि यज्ञै–
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 291/22

22. धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणा धर्मसेतवः।
तस्माद् राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे।।
महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 43/17

23. चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च।
सर्वे प्रमुह्यते ह्येतद् यदा राजा प्रमाद्यति।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/7

24. संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्चयते।।
त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते।।
यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते।।
पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा।
प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता –91/31, 32, 34, 35

25. यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते।।
यदाऽऽप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः।
कामद्वेषवनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते।।
कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/36–38

26. यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
तथा राज्ञानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत् प्रजाः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/44

27. यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः।
संयच्छन् भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पातुकः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 91/42

28. यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
संतुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 94/3

29. यस्य योधाः सुसंतुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 94/4

30. मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम्।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम्।।
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम्।
कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रिया।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता –93/16, 17

31. रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 93/24

32. दण्डो हि बलवान् यत्र तत्र साम प्रयुज्यते।
प्रदानं सामपूर्वं च भेदमूलं प्रशस्यते।
त्रयाणां विफलं कर्म यदा पश्येत भूमिपः।
रन्ध्रं ज्ञात्वा ततो दण्डं प्रयुञ्जीताविचारयन्।।
महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 94/4 के बाद दो श्लोक

उपसंहार

लौकिक संस्कृत साहित्य में महत्त्व की दृष्टि से महाभारत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व साहित्य में सबसे बड़ा ग्रन्थ महाभारत ही है जिसमें एक लाख से कुछ ऊपर श्लोक हैं।

मोक्ष महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य है, अन्य पुरुषार्थ अंग मात्र हैं। वैराग्य, संन्यास, धार्मिक जीवन आदि का लक्ष्य मोक्ष ही है, जिसमें आत्मा की सांसारिक बन्धनों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। मोक्ष की प्रतिष्ठा के लिए इस ग्रन्थ में अनेक गीताओं का निवेश किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन कार्य में 20 गीताओं को समाविष्ट किया गया है। इसमें श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़ दिया गया है। प्रस्तुत अध्ययन कार्य को कुल पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

पहला अध्याय **''महाभारत में वर्णित विविध गीताओं का परिचय''** है। ये 20 गीताएँ महाभारत के विविध पर्वों में विद्यमान हैं। शान्तिपर्व में पराशर गीता, शम्पाक गीता, मप्रि गीता, बोध्य गीता, हारीत गीता, वृत्र गीता, हंस गीता, विचख्नु गीता, षड्ज गीता, उतथ्य गीता, ऋषभ गीता व वामदेव गीता हैं। आश्वमेधिक पर्व में कश्यप गीता, ब्राह्मण गीता, अम्बरीष गीता व गुरुशिष्य गीता हैं। वन पर्व में मार्कण्डेय गीता व अष्टावक्र गीता हैं। उद्योग पर्व में सनत्सुजातीय गीता व स्त्री पर्व में विदुर गीता है। इस प्रकार कुल 20 गीताएँ मेरे अध्ययन का विषय हैं।

पराशर गीता शान्ति पर्व में 290 से लेकर 298वें अध्याय तक है। इसमें 9 अध्याय व कुल 290 श्लोक हैं। शान्ति पर्व के 176वें

अध्याय को शम्पाक गीता कहा जाता है। इसमें 23 श्लोक हैं। मंकि गीता शान्ति पर्व के 177वें अध्याय के रूप में है। इसमें 54 श्लोक हैं। शान्ति पर्व के 178वें अध्याय को बोध्य गीता कहा जाता है। इसमें 13 श्लोक हैं। हारीत गीता शान्ति पर्व में 278वें अध्याय के रूप में है। इसमें 22 श्लोक हैं। वृत्र गीता शान्ति पर्व में 279 व 280वें अध्याय में वर्णित है। इसमें कुल 104 श्लोक हैं। हंस गीता शान्ति पर्व में 299वें अध्याय के रूप में है। इसमें 45 श्लोक हैं। विचख्नु गीता शान्ति पर्व में 265वें अध्याय के रूप में है। इसमें 14 श्लोक हैं। षड्ज गीता शान्ति पर्व में 167वें अध्याय के रूप में है। इसमें 51 श्लोक हैं। उतथ्य गीता शान्ति पर्व में 90 व 91वें अध्याय में है। इसमें 2 अध्याय व कुल 150 श्लोक हैं। ऋषभ गीता शान्ति पर्व में 125 से 128वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें 4 अध्याय व कुल 91 श्लोक हैं। वामदेव गीता शान्ति पर्व में 92 से 94वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें तीन अध्याय व कुल 71 श्लोक हैं।

आश्वमेधिक पर्व में कश्यप गीता, ब्राह्मण गीता, अम्बरीष गीता व गुरुशिष्य गीता हैं। कश्यप गीता आश्वमेधिक पर्व में 16 से 19वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें 4 अध्याय व कुल 189 श्लोक हैं। ब्राह्मण गीता आश्वमेधिक पर्व में 20 से 34वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें 15 अध्याय व 325 श्लोक हैं। अम्बरीष गीता, ब्राह्मण गीता का ही एक अंश है। ब्राह्मण गीता के 31वें अध्याय को ही महात्मा अम्बरीष द्वारा गाए जाने के कारण अम्बरीष गीता कहा जाता है। इसमें 13 श्लोक हैं। गुरुशिष्य गीता आश्वमेधिक पर्व के 35वें से 51वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें 17 अध्याय व कुल 1022 श्लोक हैं।

वन पर्व में मार्कण्डेय गीता व अष्टावक्र गीता हैं। मार्कण्डेय गीता वन पर्व के 183वें अध्याय से लेकर 191वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें 9 अध्याय व कुल 585 श्लोक हैं। अष्टावक्र गीता वन पर्व के 132वें अध्याय से लेकर 134वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें 3 अध्याय व कुल 94 श्लोक हैं।

उद्योग पर्व में सनत्सुजातीय गीता है। यह 41वें से लेकर 46वें अध्याय तक वर्णित है। इसमें छह अध्याय व कुल 204 श्लोक हैं।

स्त्री पर्व में विदुर गीता है। यह 1 से लेकर सातवें अध्याय तक वर्णित है। इसमें सात अध्याय व कुल 188 श्लोक हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण गीताओं में कुल मिलाकर 88 अध्याय व 3535 श्लोक हैं। इस अध्याय में इन सभी गीताओं की विषयवस्तु व अध्याय संख्या इत्यादि का परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय **"महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में धर्म विवेचन"** है। धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। धर्म ही ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने के योग्य बनाता है। वेदव्यास कहते हैं–

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।

महाभारत–कर्णपर्व – 65/59

धर्मशास्त्रियों के अनुसार मानव व्यवहार के लिए उचित समस्त तत्त्व धर्म हैं। आचार्य मनु और याज्ञवल्क्य ने वेद, स्मृति, सदाचार एवं मन की प्रसन्नता को धर्म का मूल माना है–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

मनुस्मृतिः – 2/12

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

याज्ञवल्क्य स्मृति – आचाराध्याय – 7

धर्म के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं–

धृतिः क्षमा दमोऽस्त्येयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

मनुस्मृतिः – 6/12

महाभारत में उपलब्ध गीताओं में धर्म के स्वरूप, महत्त्व, लक्षण एवं विविध तत्त्वों इत्यादि का सविस्तार विवेचन किया गया है। धर्म को परम कल्याणकारी तत्त्व कहा गया है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है–

धर्म एवं कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 290/6

वेदों में जो "सत्यं वद्", धर्मं चर, यजेत् इत्यादि वाक्यों द्वारा मनुष्यों का कर्त्तव्य विधान किया गया है, वही धर्म का लक्षण है–

धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 290/7

धर्म पर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्म से ही देवताओं की उन्नति हुई है, धर्म में ही अर्थ की भी स्थिति है–

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/7

पुरुषार्थ चतुष्ट्य में धर्म श्रेष्ठ गुण है, अर्थ मध्यम है और काम सब की अपेक्षा लघु कहा गया है–

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–आपद्धर्मपर्व–षड्जगीता – 167/8

धर्म के विविध तत्त्व यथा सत्य, अहिंसा, तप, दया, यज्ञ, अतिथि सत्कार, सत्संगति, दान, सदाचार, त्याग, सन्तोष, काम, क्रोध इत्यादि का त्याग, धन के दोष इत्यादि पर अनेकत्र विचार किया गया है। अहिंसा सर्वोत्तम कर्त्तव्य माना गया है। यह साधन उद्वेगरहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्म को लक्षित करने वाला है–

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम्।
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम्।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 50/2

सत्य अत्यधिक पावन वस्तु कही गई है। जैसे जहाज समुद्र से पार होने का साधन है, उसी प्रकार सत्य स्वर्गलोक में पहुँचने की सीढ़ी है:–

न पावनतमं किंचित् सत्यादध्यगमं क्वचित्।
आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसंचरन्।।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हंसगीता – 299/30, 31

तपस्या सारे जगत् का मूल है। वेदवेत्ता विद्वान् इस निष्काम तप से ही परम अमृत मोक्ष को प्राप्त करते हैं–

तपोमूलमिदं तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम्।।

महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 43/10

महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि तपस्या पर सभी का अधिकार कहा गया है–

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/14

धर्म पर दृष्टि रखने वाले सत्पुरुषों के संसर्ग में रहने का उपदेश दिया गया है, दुष्ट पुरुषों का संग नहीं करना चाहिए–

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 293/3

दान को परलोक के पथ में राह खर्च के समान कहा गया है–

न माता न पिता किंचित् कस्यचित् प्रतिपद्यते।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 298/39

त्याग का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि कोई मनुष्य त्याग किए बिना सुख नहीं पाता व परमात्मा को भी प्राप्त नहीं कर सकता–

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–शम्पाकगीता – 176/22

मनुष्य को सन्तोषी बनने का उपदेश दिया गया है। असन्तोष दुःख का कारण है। लोभ से मन और इन्द्रियाँ चंचल होतीं हैं। उससे

मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे बिना अभ्यास के विद्या –

असन्तोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिताः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/25

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता – ये मनुष्य के सात शत्रु हैं। इनमें काम रूप शत्रु अत्यन्त प्रबल है। मोक्ष प्राप्ति के लिए काम, लोभ, तृष्णा व कृपणता को त्यागना आवश्यक है–

तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम्।।
आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्तावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखा।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मप्रिगीता – 177/46, 52

मनुष्य को धर्मपूर्वक धनार्जन करने का उपदेश दिया गया है। अधर्म से प्राप्त धन त्याज्य है। धन की इच्छा से शाश्वत् धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए–

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/19

धन के अनेक दोष भी बताए गए हैं। धन के मिलने पर, मिलकर नष्ट होने में और धन के लिए उद्योग करने में भी कष्ट ही कष्ट होता है–

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता न भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–मप्रिगीता – 177/26

मनुष्य को अग्नि, माता–पिता व गुरु का सम्मान करने का उपदेश भी दिया गया है–

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।

गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 292/22

इस प्रकार महाभारतीय गीताओं में धर्म का पर्याप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

तृतीय अध्याय **"महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में आश्रम धर्म"** है। प्राचीन समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने आश्रम चतुष्ट्य के सिद्धान्त की कल्पना की। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानी जाती थी। इस आयु के चार विभाग किए गए। प्रत्येक विभाग की अवधि 25 वर्ष की मानी गई। ये चार विभाग ही आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गीताओं में भी चारों आश्रमों का व उनके स्वरूप का उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रह्मचारी की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि कामनाओं के द्वारा इन्द्रिय सुख में परायण मनुष्य कामचारी व इन्द्रिय संयम में प्रवृत्त रहने वाला पुरुष सदा ही ब्रह्मचारी है–

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–ब्राह्मणगीता – 26/15

जो ब्रह्मचर्य का आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी, यम–नियमादि तप का आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीर को पवित्र बना लेता है, वह राग–द्वेष से शून्य हो जाता है और अन्त समय में मृत्यु को भी जीत लेता है–

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्।
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्त काले।।

महाभारत–उद्योगपर्व–सनत्सुजातगीता – 44/23

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, स्वरूप व विविध चरणों का सविस्तार वर्णन यहाँ किया गया है।

गृहस्थाश्रम को सर्वोपरि कहा गया है। जैसे सम्पूर्ण नदियाँ और नद समुद्र में आकर मिलते हैं वैसे ही समस्त आश्रम गृहस्थ का ही सहारा लेते हैं–

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/39

गृहस्थ को सदा अपने कर्त्तव्य का निश्चय करके स्वधर्म का पालन करते हुए कुशलतापूर्वक यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मों का अनुष्ठान करने का उपदेश दिया गया है–

सर्वात्मनानुकुर्वीत गृहस्थः कर्मनिश्चयम्।
दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मे विचरन् नृप।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 295/38

गृहस्थ पुरुष को इन्द्रिय संयमपूर्वक पंच महायज्ञ आदि में प्रवृत्त होना चाहिए–

स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह।।

महाभारत–आश्वमेधिकपर्व–अनुगीतापर्व–गुरुशिष्यगीता – 45/16

वानप्रस्थाश्रम में अपने पुत्र को घर की रक्षा में नियुक्त करके कल्याण मार्ग में स्थित होकर केवल धर्मपालन की इच्छा रखकर मनुष्य को वन को प्रस्थान करना चाहिए–

वनं गच्छेत् पुरुषो धर्मकामः।
श्रेयः स्थित्वा स्थापयित्वा स्ववंशम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 297/30

संन्यासी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिसकी भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ नष्ट होने वालीं हैं और जो प्राणियों के आवागमन को देखकर व सोचकर निःस्पृह व समदर्शी हो गया है। जो पके और कच्चे से निर्वाह करता है, जो आत्मलाभ के लिए शान्तचित्त हो गया है, जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है, वही वास्तव में संन्यासी कहलाने योग्य है–

अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम्।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तयन्।।

आत्मना यः प्रशान्तात्मा लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–हारीतगीता – 278/16

इन चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों व स्वरूप इत्यादि का सविस्तार वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय **"महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में वर्ण धर्म"** है। प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी। समाज के व्यक्तियों को जिन चार भागों में बाँटा गया, वे वर्ण कहलाएँ। महाभारत की गीताओं में इन वर्णों की उत्पत्ति विषयक कथा भी दी गई है जिसके अनुसार ब्रह्मजी के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य व चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए–

मुखजा ब्राह्मणास्तात् बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
उरुजा धनिनो राजन् पादजाः परिचारकाः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/6

इनके सामान्य धर्म का विवेचन भी यहाँ किया गया है। क्रूरता का अभाव, अहिंसा, अप्रमाद, दान देना, श्राद्ध कर्म, अतिथि सत्कार, सत्य, अक्रोध, पवित्रता, आत्मज्ञान व सहनशीलता सभी वर्णों के सामान्य धर्म हैं–

आनृंशस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च।।
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/23, 24

ब्राह्मणों का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि शुद्ध आचार–विचार से रहना, आलस्य रहित होना, सन्ध्योपासन के परायण रहना, शुद्ध अन्न खाना, न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, सत्य व धर्म का पालन करना ब्राह्मणत्व की पहचान है–

शुद्धाचारा अनलसाः सन्ध्योपासनतत्पराः।
शुद्धान्नाः शुद्धसुधना ब्रह्मचर्यव्रतान्विताः।।
सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः।।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 184/18

प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का श्रेष्ठ धर्म कहा गया है–

विशेषधर्म विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/20

क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर अन्य कोई स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग नहीं है–

एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम्।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते।।

महाभारत–स्त्रीपर्व–जलप्रदानिकपर्व–विदुरगीता – 2/18

खेती, पशुपालन और व्यापार वैश्य की आजीविका कही गई है–

कृषिश्च पाशुपल्यं च वाणिज्यं च विशामपि।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/21

द्विजातियों की सेवा करना शूद्र का धर्म कहा गया है–

द्विजानां परिचर्या च शूद्रकर्मनराधिप।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/21

इन गीताओं में शूद्र के प्रति उदार दृष्टि देखने को मिलती है। यद्यपि शूद्र उपनयन आदि संस्कार तथा वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी नहीं है, परन्तु द्विजातियों के सामान्य धर्मों का उसके लिए निषेध नहीं किया गया है–

न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो
न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा।।
श्रुति प्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते
न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/27

पराशर गीता में शूद्र को प्रजापति अथवा संसार के प्रधान रक्षक विष्णु के समान कहा गया है क्योंकि पालन कर्म विष्णु का ही है और वह अपने उस कर्म द्वारा पालनकर्ता श्री हरि की आराधना करके उन्हीं को प्राप्त होता है–

वैदेह कं शूद्रमुदाहरन्ति
द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं
विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–मोक्षधर्मपर्व–पराशरगीता – 296/28

पंचम अध्याय **"महाभारत में वर्णित विविध गीताओं में राजधर्म"** है। राजधर्म को धर्माचरण के अन्तर्गत ही माना जाता है क्योंकि धर्मशास्त्र सामान्य धर्माचरण के अतिरिक्त राजा के आचरण को भी धर्माचरण मानते हैं। राजधर्म के समुचित उपयोग से ही राजा, प्रजा एवं राज्य को धारण करता है। राजा धर्म का साक्षात् स्वरूप कहा गया है, जिसमें धर्म विराज रहा हो वही राजा है और जिसमें धर्म का लय हो गया हो, उसे देवता, वृषल मानते हैं–

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्य देवा वृषलं विदुः।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/15, 16

राजा धर्म का पालन और प्रचार करने के लिए ही होता है, विषय सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं –

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–उतथ्यगीता – 90/3

राजा की आवश्यकता के विषय में गीताओं में कहा गया है कि विधाता ने दुर्बल प्राणियों की रक्षा के लिए ही बल सम्पन्न राजा की सृष्टि की है–

दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबलं तु महद्भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 92/12

राज्य का सुचारु संचालन करने के लिए राजा में अनेक गुणों की अपेक्षा की गई है। राजा मिथ्या भाषण न करे, बिना याचना या

प्रार्थना किए ही दूसरों का प्रिय करे, किसी भी कामना, क्रोध या द्वेष से भी धर्म का त्याग न करे–

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत्।।

महाभारत–शान्तिपर्व–राजधर्मानुशासनपर्व–वामदेवगीता – 93/9

उतथ्य गीता में राजधर्म का अत्यधिक विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। राजा के महत्त्व व आवश्यकता के कारण उसे प्रजापति, विराट, क्षत्रिय, नृप आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है–

प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति।।

महाभारत–वनपर्व–मार्कण्डेयगीता – 185/27

इस प्रकार इन गीताओं में राजधर्म का प्रर्याप्त विवेचन किया गया है।

अन्त में इस अध्ययन कार्य की उपादेयता निम्न बिन्दुओं में प्रकट की जा सकती है–

1. प्रस्तुत अध्ययन कार्य द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त अन्य गीताओं का परिचय व उनमें निहित धार्मिक ज्ञान प्रकट हुआ है।
2. श्रीमद्भगवद्गीता व अन्य गीताओं का भेद ज्ञात हुआ है।
3. कालान्तर में, अनुसन्धित्सुओं को इस क्षेत्र में अध्ययन–समालोचन की अभिलाषा प्रकट होगी।
4. अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध गीताओं व स्वतन्त्र गीता ग्रन्थों को प्रकाश में लाने व उन पर अध्ययन कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मूल आलोच्य ग्रन्थ
2. संस्कृत सन्दर्भ ग्रन्थ
3. हिन्दी सन्दर्भ ग्रन्थ
4. अंग्रेजी सन्दर्भ ग्रन्थ
5. छन्दोव्याकरणकोषादि ग्रन्थ
6. विभिन्न पत्र पत्रिकाएँ

मूल आलोच्य ग्रन्थ

1. अम्बरीष गीता (महाभारत)
2. अष्टावक्र गीता (महाभारत)
3. उतथ्य गीता (महाभारत)
4. ऋषभ गीता (महाभारत)
5. कश्यप गीता (महाभारत)
6. गुरुशिष्य गीता (महाभारत)
7. पराशर गीता (महाभारत)
8. ब्राह्मण गीता (महाभारत)
9. बोध्य गीता (महाभारत)
10. मंकि गीता (महाभारत)
11. मार्कण्डेय गीता (महाभारत)
12. वामदेव गीता (महाभारत)
13. विचख्नु गीता (महाभारत)
14. विदुर गीता (महाभारत)
15. वृत्र गीता (महाभारत)
16. शम्पाक गीता (महाभारत)
17. षड्ज गीता (महाभारत)
18. सनत्सुजातीय गीता (महाभारत)
19. हंस गीता (महाभारत)
20. हारीत गीता (महाभारत)

संस्कृत सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अथर्ववेद संहिता : संपा. पद्मभूषण, डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1985
2. ऋग्वेद संहिता : संपा. श्रीमत्सायणाचार्य, वैदिक संशोधन मण्डल, 1928
3. गीता (रामानुज–भाष्य) – उभय वेदान्त ग्रन्थमाला, मद्रास, 1969
4. तर्कसंग्रह (तर्क दीपिका सहित) : डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998
5. तर्कसंग्रह (न्याय बोधिनी सहिता) : आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1985
6. न्यायदर्शन : गौतम, वात्स्यायन भाष्य, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1976
7. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य, व्या. डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, बनारस
8. न्यायसूत्र : गौतम, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1966
9. पातंजलदर्शन (पातंजल योग प्रदीप) – गीताप्रेस गोरखपुर
10. पातंजल योग दर्शन – श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
11. पातंजलयोगदर्शनम् – डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, कृष्णादास अकादमी वाराणसी, 1985
12. पातंजल योगदर्शनम् (तत्त्ववैश्रदी, योगवार्तिक सहित) – नारायणमिश्र भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1971
13. पातंजल योगसूत्र – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1914
14. भगवद्गीतागूढ़ार्थदीपिका – विनोद कुमार मुरारका, कोलकाता, 1975

15. भगवद्गीता ग्यारह भाष्यों सहित : शास्त्री गजानन शम्भु, परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1985

16. यज्ञतत्त्वप्रकाश : पं. पट्टाभिराम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
17. यजुर्वेद संहिता : श्री पं. जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर, 2005
18. योगसूत्रम्, व्यासभाष्य एवं वाचस्पति मिश्र विरचित – तत्त्ववैशारदीटीकोपेतम्, काशी, 1963
19. वाक्यदीय : भर्तृहरि, सम्पा. प्रो. के. वी. उभयंकर, महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना, 1965
20. श्रीमद्भगवतद्गीता, धर्मदत्तसूरि (बच्चा झा) विरचित – तत्त्वालोकटीकोपेता, बम्बई, 1936
21. श्रीमद्भगवद्गीता विज्ञान भाष्यम् : डॉ. शिवसागर त्रिपाठी, यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर, 2002
22. सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1978

हिन्दी सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अनासक्ति योग : म. के. गाँधी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
2. आधुनिक विज्ञान में भारतीय दर्शन का सृष्टिवाद : डॉ. हुकुम सिंह निर्भय, शर्मा पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2001
3. कर्म की हिन्दू अवधारणा : डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र, कला प्रकाशन, वाराणसी, 1996
4. गीता अवगाहन : डॉ. नागराज राव, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1990
5. गीता का नीतिशास्त्र : प्रो. दिवाकर शास्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली, 2007
6. गीतार्थ संग्रह : अभिनवगुप्तपादाचार्य, संपा. डॉ. ईश्वर भारद्वाज, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005
7. गीता दर्शन : भगवान श्री रजनीश, रजनीश फाउण्डेशन प्रकाशन, पूना, 1977

8. गीता दर्शन : रत्नाकर नराले, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2003
9. गीता दर्शन : स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, सस्ता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई, 1986
10. गीता प्रबन्ध : श्री अरविन्द, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, 1969
11. गीता प्रवचन : विनोबा, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, बैंगलोर, 1959
12. गीता रहस्य कर्मयोग शास्त्र : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
13. गृहस्थ धर्म : अवधबिहारी लाल, दि बंगाल प्रिंटिंग वर्क्स, कलकत्ता, तृ. सं. 2004
14. धर्म और समाज : सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, दिल्ली, 1960
15. धर्म दर्शन (सिद्धान्त और समीक्षा) : दुर्गादत्त पाण्डेय, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्र. सं. 1979
16. धर्मशास्त्रों में समाजदर्शन : डॉ. गीतारानी अग्रवाल, आदर्श विद्या निकेतन, वाराणसी, 1983
17. प्राचीन भारतीय शास्त्रों में वर्णित गृहस्थ आश्रम : संपा. डॉ. प्रदीप कुमार जोशी, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1996
18. पुरुषसूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन : संपा. डॉ. कुसुमलता आर्य, उच्चस्तरीय अनुसंधान संस्थान, जयपुर, 1978
19. भगवद्गीता : आधुनिक दृष्टि : नन्दलाल पाठक, उल्हास लाटकर, अभय प्रकाशन, पुणे, 2005
20. भगवद्गीता : एक नया अध्ययन : भगीरथ दीक्षित, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
21. भागवत आद्यपद्यत्रय व्याख्या (मधुसूदनी) – राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रं. 10128
22. भागवत प्रथमश्लोकव्याख्या – आचार्य मधुसूदन सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1933

23. भारतीय वर्णाश्रम : सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विश्लेषण : संपा. किशोर विद्या निकेतन, भदेनी, वाराणसी, 1987

24. वैदिक धर्म एवं दर्शन : संपा. ए.बी. कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963
25. वेदों की वैज्ञानिक अवधारणा : शिवनारायण उपाध्याय, मलिक प्रेस, दिल्ली, 1994
26. श्रीमद्भगवद्गीता : श्रीधर स्वामी कृत व्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2025
27. श्रीमद्भगवद्गीता का विज्ञान भाष्य : विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा, संपा. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, शब्द महिमा प्रकाशन, जयपुर, 1995
28. श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य : बाल गंगाधर तिलक, 2002

English Reference Books

1. Bhagvad Gita : A.K. Srivastava, Abhinva Publications, New Delhi, 1980
2. Glimpse of the Bhagvadgita & Vedanta Philosophy : M.W. Burway, Judge Small Causes Court, Indor, 1916
3. Light From the Gita : Sri Aurobindo, Sri Aurbindo Aashram, Pondicherry, 1967
4. Talks on the Gita : Vinoba, Sarva Seva Sangha Prakashan, Varanasi, 1981
5. The Bhagvad Gita & Hindi Sociology : Dr. Mahesh Kumar Sharan, Bharat Bharti Bhandar, New Delhi, 1977
6. The Geeta way of life : K.C. Worty. Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1971
7. The Hindu Gita : Arvind Sharma, Gerald Duckulorth & Co. Ltd. London, 1986
8. The message of the Upanishad & the message of the Bhagvad Gita : Karan Singh, A Sanskrit Sagar Publications, 1987
9. The Role of Bhagvad Gita in Indina History : Prem Nath Bazaz, Sterling Publishers (P) Ltd. Jallandhar, 1975

छन्दोव्याकरणकोषादि ग्रन्थ

1. अमरकोष – पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, च. सं. 1979
2. अभिधान संग्रह (संस्कृत – निर्णय सागर प्रेस, प्राचीन कोश ग्रन्थ समुच्चय), मुम्बई, 1986
3. गीता का शब्दकोष : डॉ. रत्नाकर नराले, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2003
4. महाभारत कोष – रामकुमार राय, चौखम्बा प्रकाशन, 1964
5. वाचस्पत्यम् (भाग–1–6) – श्रीतारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थसंख्या–94, 1962
6. शब्द एवं धातुरूप कोष – डॉ. प्रदीप कुमार जैन, अजय प्रकाशन, दिल्ली, 1994
7. शब्दकल्पद्रुम (भाग 1–5) – राजा राधाकान्तदेव बहादुर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1961
8. संस्कृत वाङ्मय कोश (भाग 1–2) – श्रीधरभास्करवर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, 1988
9. संस्कृत हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1989
10. हलायुध कोष (अभिधान रत्नमाला) – संपा. जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, द्वि. सं. 1967

विभिन्न पत्र–पत्रिकाएँ

1. प्राच्य ज्योति – गोपिका मोहन भट्टाचार्य, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
2. राजस्थान पत्रिका (अक्षरयात्रा)
3. University News - Dr. Sistla Rama (Association of Indian Universities, Devi Pani, 1999-2008)